श्रीमद्भगवद्गीता
गीता प्रतिपादित टीका
अधियज्ञोऽहमेव
डॉ. कमलकिशोर

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता प्रतिपादित टीका

डॉ० कमलकिशोर
बी. एस-सी. (ऑनर्स), एम. बी. बी. एस.

प्रकाशक	डॉ० कमल किशोर लक्ष्मीगंज, लश्कर (ग्वा० - १)
मुद्रक	शारदा प्रेस ग्वालियर-९
संस्करण	प्रथम (वसन्त पंचमी, १९८७)
मूल्य	तीस रुपये

समर्पण

•

गीता तथा भगवान कृष्ण के प्रति
असीम श्रद्धा जाग्रत करने हेतु—
गीता के मूल शब्दों का
गीता के ही अनुसार
अर्थ करते हुए
गीता प्रतिपादित टीका
संसार के प्रबुद्ध
पाठकों को
सादर
समर्पित

☐
☐
☐

संदर्भ - ग्रन्थ

१. गीता ज्ञान — स्व० श्री दीनानाथ भार्गव दिनेश
२. गीता रहस्य — लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक
३. गीता नवनीत — आचार्य केशव देव
४. गीता प्रबन्ध — श्री अरविन्द घोष
५. श्रीमद्भगवद् गीता — शाङ्करभाष्य
६. श्रीमद्भगवद् गीता — श्रीधर स्वामी कृत सुबोधनी टीका
७. श्रीमद्भगवद् गीता — मधुसूदनी टीका
८. The Bhagwad Gita — S. Radha Krishnan
९: The Bhagwad Gita — H. Douglas P. Hill
१०. ज्ञानेश्वरी — संत ज्ञानेश्वर
११. श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्व विवेचनी टीका — श्री जयदयाल गोयन्दका
१२. एकादशोपनिषद् संग्रह — श्री स्वामी सत्यानन्द
१३. १०८ उपनिषद् — श्री श्रीराम शर्मा आचार्य
१४. सांख्य शास्त्र — श्री श्रीराम शर्मा आचार्य
१५. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यम् — श्रीमत् काव्य तीर्थ पं० शिवशंकर शर्मा
१६. माण्डूक्योपनिषद् — शाङ्कर भाष्य
१७. केनोपनिषद् — ,, ,,
१८. श्री तैत्तरीयोपनिषद् — ,, ,,
१९. श्री कठोपनिषद् — ,, ,,
२०. राजयोग — श्री स्वामी विवेकानन्द
२१. ज्ञानयोग — ,, ,, ,,
२२. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ — स्व० चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा
२३. The History and Culture of the Indian People
२४. बन्दा बैरागी — स्व० भाई परमानन्द
२५. गीता अध्ययन — डा० कमल किशोर

□ □ □

उद्घोष

गीता संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म-ग्रन्थ है। कारण कि इस ग्रन्थ में ईश्वर की परिभाषा की गई है। यह परिभाषा इतनी तर्क-सम्मत तथा अकाट्य है कि कोई भी व्यक्ति, ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार नहीं कर सकता। इसके एक शब्द 'अधियज्ञ' द्वारा भूमण्डल से नास्तिकता तिरोहित है।

पूर्णतया आस्तिक ग्रन्थ होते हुए भी सभी विषयों का प्रतिपादन शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा, माया, भक्ति, कर्म, अन्त काल, पुनर्जन्म आदि के विषय में जो भी कहा गया है—वह अंकगणित के अंकों की तरह निर्विवाद तथा रेखागणित की आकृतियों की भाँति निश्चित है।

अन्त में, शुद्ध वैज्ञानिक ग्रन्थों की भाँति समस्त विषय संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

जो भी कहा गया है वह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में दिखने वाला सत्य है तथा इतिहास के पृष्ठों पर बारम्बार अंकित हुआ है।

□ □ □
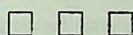
किन्तु

गीता संसार की सबसे भाग्यहीन पुस्तक है। जो कुछ इसमें लिखा गया है, भाष्यकारों द्वारा उसकी अवहेलना की गई है। इसके एक ही शब्द के अनेक अर्थ लिखकर गीता को अनिश्चित और रहस्यमय बनाया गया है।

अपनी विचारधारा प्रतिपादित करने के लिये गीता के श्लोकों का अर्थ करते हुए, गीता से भिन्न तथा विपरीत अर्थ लिखा गया तथा उसे गीता-सम्मत घोषित किया गया है।

संसार के किसी भी धर्म-ग्रन्थ का ऐसा दुरुपयोग नहीं हुआ है।

□ □ □
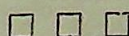
अतएव

मुझे क्षमा करें — नास्तिक बौद्ध धर्म के प्रणेता तथागत भगवान गौतम बुद्ध, जिनने गीता के अधियज्ञ शब्द का अर्थ ग्रहण किये बिना ही ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया।

क्षमा करें — संसार के सब आस्तिक धर्मों के प्रवर्तक, जिनने ईश्वर के प्रति असीम श्रद्धा का सूत्रपात किया, किन्तु गीता के अधियज्ञ शब्द की ओर ध्यान ही नहीं दिया। फलस्वरूप उनकी सारी साधना उनके अनुयायियों में अन्धविश्वास में परिणत हो गई।

क्षमा करें — सांख्य शास्त्र के प्रणेता महर्षि कपिल, यह कहने के लिये कि सांख्य शास्त्र, जैसा कि आज उपलब्ध है, गीता के लगभग एक हजार वर्ष के उपरान्त लिखा गया। अतः गीता का सांख्य कपिल सांख्य नहीं है।

क्षमा करें — महर्षि पातंजलि, यह कहने के लिये कि महाभारत में वर्णित ऋषियों में उनका नामोल्लेख भी नहीं है। अतः गीता का योग पातंजलि योग नहीं है।

क्षमा करें — जगद्गुरु आदि शंकराचार्य, यह कहने के लिये कि गीता के एक शब्द के अनेक अर्थ प्रस्तुत करने के कारण, उनके द्वारा रचित 'शांकर भाष्य' द्वारा गीता के मूल विचार ही समाप्त होगये।

क्षमा करें — संत ज्ञानेश्वर, यह कहने के लिये कि उनके चिन्तन का झुकाव नाथ सम्प्रदाय के अनुरूप है, गीता के अनुरूप नहीं है।

क्षमा करें — गीता के सभी भाष्यकार, यह कहने के लिये कि उनके द्वारा भी गीता के मूल परिभाषित शब्दों की अवहेलना की गई है, और इस प्रकार गीता के साथ अन्याय किया गया है।

अभीष्ट

गीता की मूल परिभाषाओं का आदर किया जाये।
एक शब्द के अनेक अर्थ प्रस्तुत न किये जायें।
गीता के श्लोकों का अर्थ गीता द्वारा ही प्रतिपादित हो।
भगवान कृष्ण और गीता के प्रति असीम श्रद्धा जाग्रत हो।

□ □ □

आभार

•

'गीता प्रतिपादित टीका' के मुद्रण-कार्य में श्री शैवाल सत्यार्थी एवम् श्रीमती रश्मि सत्यार्थी ने उल्लेखनीय परिश्रम किया है।

शारदा प्रेस में कार्यरत सर्वश्री रामचरणलाल शर्मा, कमलनारायण झा तथा रबि जाधव ने पूर्ण सहयोग दिया है।

मुख पृष्ठ की सज्जा प्रसिद्ध रंगकर्मी श्री विश्वमित्र वासवाणी द्वारा की गई है।

पुस्तक प्रकाशन में सभी का सराहनीय योगदान है। उपरोक्त महानुभावों के प्रति मैं हार्दिक रूप से आभारी हूँ।
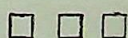
□ □ □

क्रम

•

भूमिका :

भूमिका

गीता हिन्दू धर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है। प्रत्येक हिन्दू इसे ग्रादर की दृष्टि से देखता है। इस ग्रन्थ को ग्रत्यन्त ग्रादर की दृष्टि से देखते हुए भी बहुजन समाज, इसमें क्या लिखा गया है, इसकी चिन्ता ही नहीं करता है। ग्रतः वह इस ग्रनमोल पुस्तक को वास्तविक अर्थ में पढ़ता ही नहीं है, वह इसका पाठ केवल एक धार्मिक कृत्य मानकर करता है। इसके ग्रनेक कारण हैं। सामान्य धारणा यह बन गई है कि इस ग्रन्थ को समझना एक दुस्तर कार्य है। ग्रतः इसके इने-गिने श्लोकों को अपने ग्राध्यात्मिक चिंतन का ग्राधार स्वीकार कर, जन-साधारण ग्रपना समाधान कर लेता है। बहुजन समाज इसके प्रत्ति श्रद्धा रखता है, जिज्ञासा को प्रोत्साहित नहीं करता है।

उपरोक्त पाठकों से भिन्न जिन पाठकों की जिज्ञासा कुछ ग्रधिक प्रबल हो उठती है, वे गीता को उसके भाष्यों के माध्यम से समझने का प्रयत्न करते हैं। ग्रनेक गण्यमान्य व्यक्तियों ने गीता पर भाष्य लिखे हैं। इन महापुरुषों में सर्वश्री जगद्गुरु ग्रादि शंकराचार्य, रामानुज, श्रीधर स्वामी, संत ज्ञानेश्वर, मधुसूदन सरस्वती, लोकमान्य तिलक, ग्ररविन्द घोष, विनोबा भावे, डॉ० राधाकृष्णन्, दीनानाथ भार्गव, डगलस हिल इत्यादि द्वारा रचित भाष्य ग्रादर से पढ़े जाते हैं।

उपरोक्त भाष्यों के माध्यम से गीता को समझने का प्रयत्न करना गीता-ग्रध्ययन की एक सर्वमान्य प्रणाली बन गई है। गीता को पढ़ने का, समझने का ग्रर्थ गीता के भाष्य पढ़ना हो गया है। इसमें एक दोष स्वतः ही ग्रा जाता है, इस प्रणाली से गीता एक माध्यम मात्र बन जाती है, तथा उस माध्यम से भाष्यकार ग्रपनी विचारधारा प्रतिपादित करते हैं। स्थिति कुछ-कुछ ऐसी हो जाती है कि पाठक गीता पढ़ता है, पर ग्रद्वैत या विशिष्ट अद्वैत, ग्रद्वैताद्वैत ग्रथवा नाथ सम्प्रदाय के चिन्तन द्वारा या महात्मा गांधी की विचारधारा तथा ग्रन्य विचारकों की विचारधारा से प्रभावित हो जाता है। ग्रपनी विचारधारा प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकारों ने गीता के मूल भावों की भी ग्रवहेलना कर दी है तथा गीता में जिन मूल शब्दों की स्वयं परिभाषा की है, उन परिभाषाओं को ग्रौर भी दुर्लक्ष्य

किया गया है और स्पष्ट रूप से उनसे विपरीत अर्थ प्रतिपादित किया गया है। उदाहरणार्थ, गीता में आत्मा के विषय में स्पष्ट उद्घोष है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।३।४२।।

"इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहते हैं, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि हैं, और बुद्धि से भी जो परे है वह आत्मा है।"

चिन्तन के उपरोक्त अनुशासन को मान्यता देने के उपरान्त यदि हम आत्मा का अर्थ मन या अन्तःकरण करते हैं, जैसा कि अनेक श्लोकों में अनेक भाष्यकारों द्वारा किया गया है, तो स्थिति निश्चित रूप से दुविधाजनक हो जाती है। इससे भी नीचे स्तर पर उतर कर जब हम आत्मा का अर्थ शरीर करते हैं, तो स्थिति दुःखदायी हो जाती है। कारण कि यह तो गीता की धारणाओं के ही विरुद्ध हो जाता है, तथा गीता जो आत्मा के विषय में चिन्तन को अनुशासित करना चाहती है, हम उसे ही निरस्त कर देते हैं। इस स्थिति को देखकर कुछ पाठक यह धारणा बनाते हैं कि 'गीता तो एक दर्पण मात्र है जिसमें व्यक्ति अपनी ही छवि देखता है' अथवा 'गीता तो एक मंच मात्र है जिस को आधार बनाकर व्यक्ति अपनी बात कहता है।' उपरोक्त धारणायें अथवा मान्यतायें एक विशेष दृष्टिकोण से ठीक हो सकती हैं, पर यह अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न प्रस्तुत करती है कि क्या गीता एक दर्पण या मंच मात्र है अथवा हमारी पथ-प्रदर्शिका है ? क्या भाष्यकार को ही अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार है ? गीता को क्या अपनी बात कहने का अधिकार नहीं है ? यह विचार-स्वातंत्र्य तो नहीं माना जा सकता कि जिस ग्रन्थ को हम अपने धर्म का श्रेष्ठतम् ग्रन्थ मानते हैं, उसी को आधार बनाकर उसी के विपरीत अर्थ प्रतिपादित करें और कहें कि यह गीता के अनुसार है। विचार-स्वातंत्र्य के लिये आवश्यक है कि गीता की मूल परिभाषाओं को मान्यता दी जाय और फिर उनके औचित्य और अनौचित्य के समर्थन और विरोध में मत प्रकट किया जाय। इसके उपरान्त पाठक स्वयं निर्णय करें कि क्या ठीक है, क्या गलत है।

गीता में ब्रह्म के विषय में स्पष्ट रूप से कहा गया है—'अक्षरं ब्रह्म परमम्' (परम अक्षर ब्रह्म है) तथा भगवान असंदिग्ध शब्दों में कहते हैं कि ईश्वर, अक्षर अर्थात् ब्रह्म से श्रेष्ठ है।

'दो प्रकार के इस लोक में पुरुष हैं, क्षर भी और अक्षर भी। क्षर सब भूत प्राणी, शिखरस्थ अक्षर कहा जाता है।'

उत्तम पुरुष किन्तु दूसरा है जो (ऐसे) परमात्मा कहलाता है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके धारण पोषण करता है—अविनाशी ईश्वर ।

क्योंकि क्षर से अतीत में अक्षर से भी और उत्तम । अतः हूँ इसलिये लोक और वेद में प्रसिद्ध पुरुषोत्तम ।

—(अध्याय १५, श्लोक १६, १७, १८)

इस स्पष्टोक्ति के उपरान्त जिज्ञासा का आवाहन है कि हम ईश्वर और ब्रह्म की प्रथक-प्रथक परिभाषा करें, (तथा जो भी परिभाषा मान्य हो वह गीता द्वारा ही प्रतिपादित हो । अन्य किसी भी ग्रन्थ का अवलम्बन हमें अनिश्चितता की ओर उन्मुख कर देगा, कारण कि ग्रन्थ और लेखक असंख्य हैं । गीता के अतिरिक्त किसी भी अन्य ग्रन्थ का आश्रय अन्तहीन विवाद ही उत्पन्न करेगा) न कि यह कि ब्रह्म और ईश्वर को एक मान लें । दुर्भाग्यवश सभी भाष्यकार ब्रह्म को ईश्वर मानकर गीता के श्लोकों का अर्थ करते हैं और यदि श्लोंक द्वारा भिन्न अर्थ ध्वनित होता है, तो शब्दों का अर्थ निःसंकोच बदल दिया गया है, और पाठक को ब्रह्म का अर्थ त्रिगुणात्मक प्रकृति भी मानने पर बाध्य किया जाता है । (अ. १४।३-४)

भाष्यकार के व्यक्तित्व से प्रभावित हिन्दू पाठक कुण्ठाग्रस्त होकर मौन ग्रहण कर लेता है । अधिक से अधिक यह मानने को बाध्य हो जाता है कि गीता का अर्थ सब लोग अपने मत के अनुसार करते हैं । इस अनिश्चितता से त्रस्त होकर ही संभवतया स्वामी विवेकानन्द को कहना पड़ा—"गीता पाठ करने की अपेक्षा व्यामाम करने से तुम स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे' ('सर्वोत्तम विचारशक्ति' पृष्ठ ३६।१६८४) कितनी दुःखदायी स्थिति है कि हम अपनी विचारधारा प्रतिपादित करने के लिये श्रद्धानत प्रवुद्ध पाठक को गीता से ही विमुख कर देते हैं । पाश्चात्य विचारक भारतीय धर्म ग्रन्थों का अध्ययन एक विशिष्ट उद्देश्य से करते हैं । उनका लक्ष्य केवल यही होता है कि भारतीय धर्म-ग्रन्थों में से ऐसी धारणाओं को प्रकट किया जाये कि भारतीयों की अपने धर्म-ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा समाप्त हो जाये और वे दिग्भ्रान्त होकर अपने आध्यात्मिक चिन्तन के लिये किसी अन्य आधार की खोज करें । गीता में (इन) स्पष्ट दिखने वाली विसंगतियों को देखकर उनका यह आक्रामक रूप सहसा प्रस्फुटित हो उठता है ।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान हॉप्किन्स उद्घोषित करता है—

"The different meanings given to the same words are indicative of its patch work origin which again would help to explain its philosophical inconsistencies". On such grounds he stigmatizes

the poem as—"an ill assorted cabinet of primitive philosophical opinions".

समान शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ इस पुस्तक के फूहड़ पैबन्द लगे उद्गम के द्योतक हैं और इस पुस्तक की दार्शनिक अस्थिरता का इसी आधार पर स्पष्टीकरण करने में सहायक हैं। इसी आधार पर लेखक इस काव्य को "आदिम दर्शन शास्त्रों से भरी बेढंगी अलमारी" कहकर लांछित करता है।

संभवतया यह विश्वेदेव को समर्पित काव्य की वैष्णव आवृत्ति है।

—होजमन

किसी पुरानी वैष्णव कविता का कृष्ण पर आधारित संस्करण है जो कि स्वतः ही कोई उपनिषद् रही हो।

—हॉप्किन्स

यह भागवत धर्मावलम्बियों की पाठ्य-पुस्तक है, जिसे कि ब्राह्मणों द्वारा वेदान्त के साँचे में ढाल दिया गया है।

—गार्वे

यह उपनिषदों के एकीश्वरवाद में से उत्पन्न विकृति है, जो कि आस्तिकता के यथार्थवादी नास्तिकवाद में परिवर्तन के समय लिखी गई।

—हुशैन

उपरोक्त धारणायें एक ही भाव की अभिव्यक्ति मात्र हैं कि भगवान कृष्ण का व्यक्तित्व ही समाप्त कर दिया जाये। इसका सबसे सरल मार्ग जो पाश्चात्यों ने अपनाया, वह यह कि भगवान कृष्ण का गीता से सम्बन्ध ही तोड़ दिया जाये। इस प्रकार भगवान और गीता के प्रति श्रद्धा स्वतः ही समाप्त हो जायगी। पाश्चात्य विद्वानों की इस प्रकार की धारणायें बनाने के लिये गीता के भाष्यकार ही उत्तरदायी हैं।

एक और प्रकार से गीता के प्रति श्रद्धा समाप्त करने का मार्ग जो कि अपनाया गया, वह एक प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया गया कि—"वेदों और उपनिषदों से गीता का क्या सम्बन्ध है?" इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर न मिलने के कारण उनका तर्क और भी प्रबल हो जाता है। किन्तु किंचित मात्र भी गम्भीर विवेचन से यह धारणायें क्षण मात्र में निरस्त हो जाती हैं। प्रतिप्रश्न है—"केवल गीता को ही क्यों वेदों और उपनिषदों में खोजा जाता है? सम्पूर्ण महाभारत

को ही क्यों नहीं वेदों और उपनिषदों में खोजा जाता?" भगवान कृष्ण और अर्जुन के समतुल्य भीष्म, कर्ण, युधिष्ठिर, भीम आदि अनेक व्यक्ति महाभारत में विद्यमान हैं। उनको भी वेदों में खोजना चाहिये। स्पष्ट रूप से यह एक निरर्थक जिज्ञासा है। आरम्भ होते ही समाप्त हो जाती है। यदि वेदों में महाभारत ही नहीं है, तो गीता कैसे हो सकती है, और पाश्चात्य कुशंका स्वतः ही निर्मूल हो जाती है।

उपरोक्त तथ्यों पर विचार करते हुए—भगवान कृष्ण तथा गीता के प्रति असीम श्रद्धा जाग्रत हो, यह अपरिहार्य हो जाता है कि (१) गीता के मूल शब्दों का अर्थ निश्चित किया जाय। (२) एक शब्द का एक ही अर्थ सम्पूर्ण ग्रन्थ में मान्य हो। संबंधित श्लोकों में से वही अर्थ ध्वनित हो। प्रसंगानुसार शब्दों का अर्थ विकृत न किया जाय।

इसके साथ ही एक और प्रश्न उत्पन्न होता है कि गीता के मूल शब्दों का अर्थ किस आधार पर किया जाय? हजारों वर्ष पुराने ग्रन्थ के मूल शब्दों का अर्थ, किसी भी अन्य ग्रन्थ के आधार पर जो गीता के सदियों बाद लिखा गया हो, के अनुसार नहीं किया जा सकता। गीता और गीता पर उपलब्ध प्रथम भाष्य—शंकर भाष्य में करीब २२०० वर्ष का अन्तर है। इसी काल-खण्ड में संसार के सभी धर्मों—बौद्ध, जैन, ईसाई और इस्लाम का उद्भव हुआ। इन सबके प्रभाव से कुछ मिली-जुली धारणायें जन-मानस के पटल पर अंकित हो गई थीं। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य तथा उनके पश्चात् सभी भाष्यकार इन्हीं धारणाओं से प्रभावित थे। अतः इन भाष्यों और गीता में अनेक विसंगतियाँ दिखाई देती हैं। इन धारणाओं के आधार पर यदि हम गीता के शब्दों का अर्थ करने का प्रयास करते हैं तो स्थिति दुविधा-जनक हो जाती है। ब्रह्म को ईश्वर मानना, यह एक ऐसी ही विसंगति है। इसके साथ ही अन्य प्रचलित धारणायें भी गीता के अनुसार नहीं हैं। उदाहरणार्थ गीता की ईश्वर के विषय में स्पष्ट घोषणा है—

"न कर्तापन को, न लोक के कर्मों को, न कर्मफल संयोग को रचता है ईश्वर, स्वभाव ही सब करता है। ॥५।१४॥

न ग्रहण करता है किसी के पाप को, न ही किसी के पुण्य को ईश्वर, अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, इससे जन्तु मोहित हो रहे हैं। ॥५।१५॥

स्पष्ट रूप से उपरोक्त धारणायें निम्नांकित मध्ययुगीन, रामायण की धारणाओं से भिन्न हैं—

शुभ अरु अशुभ करम अनुहारी।
ईश देहि फल हृदय विचारी॥

तथा

होई है सोई जो राम रचि राखा ।
को करि तरक बढ़ावहिं साखा ॥

स्पष्ट है कि इन दो धारणाओं का समन्वय नहीं हो सकता । इसी प्रकार हमारी आज की अन्य धारणायें भी गीता काल में प्रचलित धारणाओं से भिन्न हैं । शब्द वही हैं, पर उनके विषय में धारणायें भिन्न हो गई हैं । केवल ईश्वर ही नहीं– ब्रह्म, आत्मा, कर्म, जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म, माया, भक्ति आदि के विषय में भी हमारी धारणायें गीता से भिन्न हो गई हैं ।

हमारा सौभाग्य है कि गीता ने उपरोक्त शब्दों की स्वयं ही परिभाषा की है । अतः हमें किसी अन्य ग्रन्थ का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है । किन्तु काल के प्रभाव से इन परिभाषाओं की ओर हमने दुर्लक्ष्य किया । फलस्वरूप कोई भी भाष्य अथवा टीका, गीता का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सकी है । इस दिशा में—**श्री मद्भगवद्गीता प्रतिपादित टीका** एक अभिनव प्रयास है । इस कृति में गीता के मूल शब्दों पर गीता के ही अनुसार विचार किया गया है तथा सारी टीका में एक शब्द का एक ही अर्थ किया गया है ।

यद्यपि उपरोक्त टीका में सभी मूल शब्दों पर विचार किया गया है । लेखक की स्वरचित पुस्तक 'श्री भगवद्गीता अध्ययन' में भी इसी प्रकार का चिन्तन प्रस्तुत किया गया है । तथापि प्रत्येक शब्द पर सम्यक चिन्तन अभीष्ट है, इसलिये संक्षेप में मूल विषयों तथा शब्दों पर विचार करना गीता को समझने में सहायक होगा ।

ईश्वर— अधियज्ञ, (सर्वोपरियज्ञ)—

धार्मिक साहित्य का सबसे रहस्यमय शब्द ईश्वर है। सभी आस्तिक विचारक पूर्ण विश्वास के साथ ईश्वर का अस्तित्व घोषित करते हैं । इसके साथ ही, सभी नास्तिक विचारक उतनी ही दृढ़ता के साथ ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतया यह एक अन्तहीन, सदा चलने वाला विवाद है । किन्तु ईश्वर क्या है ? और क्या नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर कोई भी पक्ष प्रस्तुत नहीं करता है। फलस्वरूप संसार की सब आस्तिक विचारधारायें अन्ध-श्रद्धा की गोद में जा गिरती हैं, और नास्तिकता की परिणति उच्छृंखल भोगवाद में हो जाती है ।

उसके विपरीत गीता एक आस्तिक ग्रन्थ होते हुए भी किसी भी प्रकार की अन्ध-श्रद्धा को प्रश्रय नहीं देती । गीता में भगवान अपने को ईश्वर कहते हैं । अपने-आप को ईश्वर कहना स्वतः ही एक अन्ध-विश्वास को जन्म देना है । गीता स्वयं भी इसे आसुरी संपत्ति सम्पन्न व्यक्ति का एक लक्षण मानती है । किसी भी व्यक्ति को ईश्वर मानना निकृष्टतम अन्ध-विश्वास है ।

उपरोक्त धारणा पूर्णतया सत्य होती, यदि गीता में ईश्वर की परिभाषा न की जाती—परन्तु भगवान अपने को ईश्वर घोषित करते हुए ईश्वर की परिभाषा भी करते हैं—

"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ।"

अधियज्ञ हूँ मैं ही इस देह में, देहधारियों में श्रेष्ठ, अर्जुन !

अधियज्ञ शब्द का अर्थ कोश के अनुसार प्रधान यज्ञ, परमेश्वर है। इस प्रकार गीता के अनुसार ईश्वर (१) प्रधान यज्ञ है तथा वह (२) देह में स्थित है। अधियज्ञ अर्थात् सर्वोपरि यज्ञ गीता का अनोखा शब्द है। गीता के अतिरिक्त इस शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया है। अतः विचारणीय विषय है कि सर्वोपरि यज्ञ क्या है ? अधियज्ञ का भाव स्पष्ट रूप से ग्रहण करने के लिये आवश्यक है कि यज्ञ शब्द पर विचार किया जाय। यज्ञ शब्द 'यज्' धातु से बना है। 'यज्' का अर्थ कोश के अनुसार यज्ञ करना, बलिदान करना नैवेद्य रखना, पूजा करना है। स्पष्ट है कि बलिदान का भाव यज्ञ शब्द में स्वतः ही निहित है। बलिदान यज्ञ का मूल भाव है। होम, हवन, पूजा, नैवेद्य अर्पण आदि यज्ञ के वाह्य स्वरूप हैं। यदि पूजा-हवन आदि बलिदान भाव से हीन हों, तो वह निस्सार पाखण्ड मात्र ही हैं।

गीता से शताब्दियों पूर्व यज्ञ भारतीय चिन्तन और जीवन का आधार बन चुका था। स्पष्ट रूप से यह कहा गया है और आज भी दोहराया जाता है कि—

यज्ञो वै विष्णुः (यज्ञ ही विष्णु है)

यज्ञ का महत्व प्रतिपादित करने के लिये यह मंत्र अनेक धर्म-सम्मेलनों और धर्म-ग्रन्थों में बार-बार दोहराया जाता है। इस मंत्र के विषय में कोई शंका प्रस्तुत नहीं की जाती है। इस मंत्र के भाव को एक निर्विवाद स्वयंसिद्ध तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है।

गीता की उपरोक्त परिभाषा इसी मंत्र की स्पष्ट व्याख्या है। 'यज्ञो वै विष्णुः' (यज्ञ ही विष्णु है) और "अधियज्ञोऽहमेव" (अधियज्ञ हूँ मैं ही) में कोई अन्तर नहीं है। (१) यज्ञ शब्द द्वारा यज्ञ के वाह्य रूप को न ग्रहण किया जाय—जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत आदि के समय होने वाले यज्ञों को ईश्वर न माना जाय—इसलिये गीता में यज्ञ के स्थान पर अधियज्ञ शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) साधारणतया तो विष्णु और ईश्वर में कोई भेद नहीं माना जाता, फिर भी अहम शब्द के प्रयोग द्वारा गीता ने और भी स्पष्ट किया है कि 'अधियज्ञ' ईश्वर है—कोई देवता विशेष नहीं है।

(३) "अत्र देहे" द्वारा और भी स्पष्ट किया गया है कि यह अधियज्ञ मनुष्य-देह में स्थित है। यह किसी हवन-कुण्ड में स्थित नहीं है, "अत्र देहे" (इस देह में) द्वारा यज्ञ का बलिदान-भाव स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

निश्चित रूप से सामग्री, घी, समिधा द्वारा किया गया यज्ञ सर्वोपरि यज्ञ नहीं है। ज्ञान यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, तप यज्ञ, दान यज्ञ आदि भी सर्वोपरि यज्ञ नहीं माने जा सकते। राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ भी सर्वोपरि यज्ञ नहीं हैं। मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ संपत्ति उसका प्राण है तथा सर्वोपरि लक्ष्य धर्म है। अतः धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग ही सर्वोपरि यज्ञ है। गीता में भगवान अपने-आपको इसी भाव के साथ एकात्म करते हैं। इसके साथ ही यह भी प्रतिपादित किया गया है कि यह धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का भाव, यह ईश्वरत्व प्रत्येक व्यक्ति की देह में विद्यमान है।

गीता की मान्यता है कि जिस प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा की सत्ता प्राणी मात्र में विद्यमान है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वरत्व, धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग करने का भाव एक प्रत्यक्ष दिखने वाला तथ्य है। काल अथवा परिस्थिति वशात् यह प्रत्येक व्यक्ति में विकसित न हो पाये, किन्तु इसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि यह भाव व्यक्ति में न होता, तो गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर, हकीकतराय, भाई मतिदास, बन्दा बैरागी तथा अनेक क्रान्तिकारी क्यों अपना प्राण होम करते? प्रत्येक बलिदान प्राणी मात्र में अधियज्ञ की उपस्थिति का प्रमाण है।

गीता में ईश्वर कोई कल्पना मात्र नहीं, कोई यौगिक अनुभूति नहीं, एक प्रत्यक्ष प्रतिपादित विज्ञान पर आधारित सत्य है। प्रत्येक इतिहास की पुस्तक में वर्णित है, प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर अंकित है। युग-युग में, प्रत्येक देश में इस की अभिव्यक्ति हुई है और भविष्य में भी होती रहेगी।

घोरतम नास्तिक व्यक्ति भी यह नहीं कह सकता कि प्राणोत्सर्ग का भाव उसमें नहीं है। उपरोक्त भाव को अस्वीकार करना अपनी सत्ता को ही अस्वीकार करना है। अतः गीता का ईश्वर तथा अहम् प्राणी मात्र में स्थित धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का भाव है। गीता इसी सर्वोपरि यज्ञ का ही गीत है।

यही बलिदान-भाव भारतवर्ष के क्षत्रियों का सर्वोपरि भाव, ईश्वर-भाव है। यही सारी सृष्टि रचना का आधार है। ब्रह्म अर्थात् परा प्रकृति इसी का अंश मात्र है। सम्पूर्ण अध्यात्म-धारणा अर्थात् आत्मा इसी भाव में से उत्पन्न होती है। आत्मा की शक्ति में से ही धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग के भाव का प्रादुर्भाव होता है। यही भाव प्राण, अमर जीवन, सनातन धर्म और

ऐकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा है। यही भाव प्राणीमात्र को सब प्रकार के पापों से मुक्ति दिलाने में समर्थ है। इस भाव से रहित शरीर, प्राण और पंचभूतों का संयोग मात्र है।

ब्रह्म—परा प्रकृति अर्थात् प्राण

गीता का दूसरा महत्वपूर्ण शब्द ब्रह्म है। कोश के अनुसार ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं—जैसे ईश्वर, वेद, प्रकृति, ब्रह्मा, ब्राह्मण, अध्यात्म, सच्चिदानन्द, अनन्त, विराट्, हिरण्यगर्भ आदि।

गीता में भी अध्याय १०।१२ तथा ११।१८ में अर्जुन, भगवान को 'परब्रह्म' तथा 'अक्षरं परमं' कहते हैं।

इसके अतिरिक्त गीता में कहीं भी भगवान को ब्रह्म नहीं कहा गया है। कोई भी व्यक्ति किसी से भी प्रभावित होकर उसकी स्तुति में कुछ भी कह सकता है। किन्तु यदि भगवान कहते हैं कि मैं ब्रह्म से श्रेष्ठ हूँ। (अध्याय १५–१६।१७।१८) तो भगवान का कथन निश्चित रूप से अर्जुन के उपरोक्त कथन की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। इसके साथ ही १२वें अध्याय में अर्जुन स्वतः ही प्रश्न करते हैं—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।१।

"इस प्रकार से जो नित्य युक्त भक्त आपकी (अधियज्ञ की) उपासना करते हैं, वे और जो अविनाशी अव्यक्त (ब्रह्म) की उपासना करते हैं, उनमें उत्तम योगवेत्ता कौन है?"

उपरोक्त प्रश्न के उपरांत अर्जुन की यह धारणा कि "आप 'ब्रह्म' हैं, आप 'परम अक्षर' हैं," स्वतः ही निरस्त हो जाती है, तथा अर्जुन की इसी धारणा का निराकरण क्रमशः १३वें, १४वें तथा १५वें अध्याय में भगवान द्वारा किया गया है।

अतः विचारणीय विषय है कि ईश्वर का अर्थ निश्चित होने पर ब्रह्म का अर्थ भी गीता के अनुसार निश्चित किया जाय।

गीता में भगवान कहते हैं—"ममयोनिर्महद् ब्रह्म" ।१४।३

उपरोक्त श्लोकांश का अर्थ भाष्यकारों द्वारा निम्न प्रकार से किया गया है—

मम स्वभूता मदीया माया त्रिगुणात्मिका
प्रकृतिर्योनिः सर्व भूतानां कारणम्।

—जगद्गुरु आदि शंकराचार्य

मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति गर्भाधान का स्थान है।

—*श्रीधर स्वामी*

महान् और समस्त भूतों की वृद्धि का हेतुभूत अव्याकृत ही मेरा गर्भस्थापन का स्थान है।

—*श्री मधुसूदन स्वामी*

महत् ब्रह्म मेरा गर्भाशय है।

—*श्री अरविन्द घोष*

मेरी महत् ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है।

—*श्री जयदयाल गोयन्दका*

प्रकृति मेरी योनि है।

—*श्री दीनानाथ भार्गव दिनेश* (गीताज्ञान)

For me the great Brahman is a Womb.

—**Douglas Hipp**

Great Brahman is my Womb.

—**Shri Radha Krishnan**

उपरोक्त उद्धरण स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हैं कि भाष्यकार—(१) महत्ब्रह्म का अर्थ प्रकृति तथा (२) योनि का अर्थ गर्भस्थान मानते हैं। ब्रह्म को प्रकृति अथवा त्रिगुणात्मक माया स्वीकार करना एक बहुत ही असाधारण अर्थ है तथा ब्रह्म शब्द की गरिमा के अनुकूल भी नहीं है। इसके साथ ही योनि शब्द का अर्थ गर्भस्थान मानने से उपरोक्त श्लोक का स्तर बहुत ही निम्नस्तर पर आ जाता है।

इस श्लोक पर गीता के अनुसार ही विचार किया जाना अभीष्ट है।

योनि शब्द सातवें अध्याय में प्रकृति के लिये प्रयुक्त किया गया है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है।४।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जोवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

यह तो अपरा प्रकृति है, इस से अन्य जानो मेरी परा प्रकृति को जो प्राण रूपा है, जिससे जगत धारण किया जाता है ॥ ५ ॥

एतद् योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

इन दोनों प्रकृतियों से सब भूतों को जानो । ६ ।

इस प्रकार योनि शब्द का अर्थ प्रकृति, गीता द्वारा ही प्रतिपादित है ।

अत: मम योनिर्महद् ब्रह्म का अर्थ 'मेरी प्रकृति महत् ब्रह्म' है ।

इसी प्रकार 'मेरी प्रकृति' का अर्थ भी गीता के अनुसार ही ग्रहण किया जाय ।

'विद्धि मे पराम् ।' ७।५

"जानो मेरी परा प्रकृति को, जो प्राण रूपा है तथा जिससे जगत धारण किया जाता है ।"

यद्यपि अपरा प्रकृति को भी भगवान मेरी प्रकृति कहते हैं, किन्तु उससे श्रेष्ठ होने के कारण जो परा प्रकृति है, वही महत् ब्रह्म है जो अपरा अर्थात् उससे निकृष्ट है, उसे परब्रह्म नहीं कहा जा सकता । अत: उपरोक्त श्लोकांश द्वारा स्पष्ट होता है कि—

'प्राणरूपा परा प्रकृति परब्रह्म है ।'

उपरोक्त अर्थ शाब्दिक जोड़-तोड़ का ही परिणाम नहीं है । न ही यह कोई नवीन विचार है । यह उपनिषद् काल में धर्म-सम्मेलनों द्वारा निर्णीत निर्विवाद अर्थ है । यह राजर्षियों द्वारा मान्य, एकाकी आरण्यक चिन्तकों द्वारा उद्घोषित, तथा जगद्गुरु आदि शंकराचार्य द्वारा भी समर्थित अर्थ है । उपनिषद् काल में प्राण को ही ब्रह्म कहा जाता था । कालान्तर में ब्रह्म का अर्थ बदल गया तथा भाष्यकार जैसा कि ऊपर कहा गया है ब्रह्म का अर्थ ईश्वर, माया आदि प्रतिपादित करने लगे, किन्तु गीता अपनी जगह अपने ७०० श्लोकों में स्थिर रही । फलस्वरूप गीता और भाष्यकारों द्वारा प्रतिपादित अर्थ में विसंगति उत्पन्न हो गई है ।

विदेह राजा जनक ने प्राचीन काल में कुरु और पांचाल देश के ब्राह्मणों की सभा, यह निर्णय करने के लिये बुलाई कि इन ब्राह्मणों में श्रेष्ठ कौन है ? उस

सभा-मण्डप में याज्ञवल्क्य ने सभी विद्वानों को निरुत्तर कर दिया और अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण सिद्ध कर दिया। उसी सभा में शाकल्य विदग्ध के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—

(१) कतम एको देव इति। प्राण इति। स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते।

वह एक देव कौनसा है? वह प्राण है, उसी को ब्रह्म कहा जाता है।

(२) मुण्डकोपनिषद् में (दूसरा मुण्डक, खण्ड दो, मन्त्र दो) कहा गया है।

'तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राण स्तदुवाङ्मनः।'

'वही यह अविनाशी ब्रह्म है, वही प्राण, वही मन, वही वाणी है।'

कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् में स्पष्ट उद्घोष है—'प्राणो ब्रह्मेति'—प्राण ब्रह्म है।

उसी उपनिषद् में यही शब्द पैङ्गप् ऋषि द्वारा भी दोहराया गया है—'प्राणो ब्रह्मेति।'

किन्तु इस प्रकरण पर अन्तिम निर्णय जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ने प्रस्तुत किया है।

माण्डूक्योपनिषद् का स्पष्ट उद्घोष है कि यह ब्रह्म ही आत्मा है तथा और भी स्पष्ट उद्घोष है—'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ' (मंत्र ६)

यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है। इसी माण्डूक्योपनिषद् पर भगवत्पाद गोडेपादाचार्य द्वारा रचित 'माण्डूक्य कारिका' प्रसिद्ध है। उसी कारिका के दूसरे श्लोक पर टिप्पणी करते हुए जगद्गुरु लिखते हैं—

'सद्ब्रह्म की सबीजता स्वीकार करके ही उसका प्राण रूप से समस्त श्रुतियों में कारण रूप से उल्लेख किया गया है। (तस्मात्सबीजत्वाभ्युगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वं श्रुतिषु च कारणत्व व्यपदेशः)।'

इस स्थान पर जगद्गुरु एक और विवाद प्रारम्भ करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म के दो भेद कहे गये हैं। शुद्ध ब्रह्म तथा सद्ब्रह्म, जगद्गुरु की मीमांसा के अनुसार गीता में 'न सत्तन्नासदुच्यते'—वह न सत् कहा जाता है, न असत् (१३-१२) यह शुद्ध ब्रह्म का वर्णन है।

किन्तु गीता में तो ब्रह्म का इस प्रकार का विभाजन कहीं भी नहीं है, तथा गीता में शुद्ध ब्रह्म शब्द का कहीं प्रयोग भी नहीं किया गया है।

गीता में 'न सतन्नासदुच्यते' द्वारा ब्रह्म ज्ञान का प्रारम्भ किया गया है और पूर्ण विवेचन के उपरान्त ओम्तत् सत्—ऐसे यह तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश कहा गया है, इसी से पूर्व में ब्राह्मण (ग्रन्थ) वेद तथा यज्ञादि रचे गये हैं।

ओम तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

इस प्रकार जिस सद्ब्रह्म को जगदगुरु प्राण कहते हैं, गीता में उसी सद्ब्रह्म का प्राण रूप से वर्णन है। जो सत् है वह स्वतः ही निर्दोष है। शुद्ध, सत्, सर्वव्यापी आदि ब्रह्म के विशेषण मात्र हैं। भिन्न-भिन्न ब्रह्म नहीं हैं।

जगद्गुरु ने उपनिषद् ग्रन्थों में भी प्राण को ब्रह्म मानकर ही उनका अर्थ किया है।

उदाहरणार्थ—

'यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्वि विदुरमृतास्ते भवन्ति'

'यह जो कुछ सारा जगत है, प्राण-ब्रह्म में उदित होकर उसी से चेष्टा कर रहा है। यह ब्रह्म महान् भय रूप है और उठे हुए बज्र के समान है। जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

—कठोपनिषद् २।३।२

इस प्रकार से गीता में ब्रह्म का अर्थ 'प्राण' ही मान्य है। यही उपनिषद् समर्थित तथा जगद्गुरु आदि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित है।

ब्रह्म गीता में ईश्वर से नितान्त भिन्न है। ब्रह्म और ईश्वर का सम्बन्ध भी १४ वें अध्याय के अन्तिम श्लोक में स्पष्ट रूप से बताया गया है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ १४।२७

'ब्रह्म की (प्राण की) प्रतिष्ठा मैं—प्राणोत्सर्ग—अमृत की भी, अविनाशी की भी, सनातन धर्म की भी और एकान्तिक सुख की भी।

इस प्रकार गीता के ब्रह्म से सम्बन्धित श्लोकों का अर्थ ब्रह्म को प्राण मान कर 'गीता प्रतिपादित टीका' में किया गया है। फलस्वरूप जो श्लोक रहस्यमय थे, वे सरल हो गये हैं।

आत्मा : अध्यात्म धारणा

गीता का तीसरा विचारणीय शब्द ग्रात्मा है। हिन्दू धार्मिक चिन्तन में यह शब्द ग्रत्यंत महत्वपूर्ण है। गीता ग्रौर प्रत्येक उपनिषद् में इस शब्द का बारम्बार प्रयोग किया गया है।

ईश्वर ग्रौर ब्रह्म की भाँति कोश ग्रात्मा के भी ग्रनेक अर्थ प्रस्तुत करते हैं, जैसे जीव, परमात्मा, मन, बुद्धि, मनन शक्ति, स्फूर्ति, मूर्ति, शक्ल, पुत्र, उद्योग, सूर्य, ग्रग्नि ग्रादि। उपरोक्त ग्रर्थ किसी सन्दर्भ विशेष में उपयुक्त हो सकते हैं, किन्तु गीता में जो ग्रात्मा के विषय में विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उनके सन्दर्भ में यह ग्रर्थ सारहीन हो जाते हैं। उपरोक्त ग्रर्थ हमें गीता के ग्रत्मा विषयक चिन्तन को ग्रहण करने में किसी भी प्रकार की सहायता नहीं देते हैं। ग्रतएव ग्रात्मा का ग्रर्थ ग्रहण करने के लिये हमें गीता की ही सहायता लेना चाहिये।

गीता द्वारा ग्रात्मा का ग्रर्थ ग्रहण करने का प्रयत्न करने से पूर्व एक स्पष्टीकरण ग्रावश्यक है। गीता में सभी भाष्यकार 'देहिन' ग्रर्थात् देहधारी शब्द का ग्रर्थ 'ग्रात्मा' ग्रथवा 'जीवात्मा' प्रतिपादित करते हैं; किन्तु यह ग्रर्थ गीता के ग्रनुसार नहीं है। गीता के ग्रनुसार यह सम्पूर्ण जगत पराप्रकृति ग्रर्थात् प्राण द्वारा धारण किया जाता है।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्। (७।५)

जीव रूपा, मेरी परा प्रकृति जानो, जिससे यह जगत् धारण किया जाता है।

ग्रतः स्पष्ट है कि जो प्राणरूपा, जीवरूपा परा प्रकृति जिससे जगत् धारण किया जाता है, वह स्वतः ही निर्विवाद देहधारी है। ग्रतएव देहधारी प्राण है, ग्रात्मा ग्रथना जीवात्मा नहीं है।

उपरोक्त स्पष्टीकरण के उपरान्त गीता में जो ग्रात्मा से सम्बन्धित विचार है, उस पर विचार करना ग्रावश्यक है, क्योंकि गीता में कहीं भी एक श्लोक द्वारा ग्रात्मा की परिभाषा नहीं की गई है। इस दिशा में गीता में जो कुछ ग्रात्मा के विषय में कहा गया है, उन सब विचारों का सम्यक ग्रध्ययन ही हमें ग्रात्मा का ज्ञान देने में सक्षम है। अन्य किसी भी माध्यम द्वारा हम गीता में वर्णित 'ग्रात्मा' शब्द का अर्थ नहीं ग्रहण कर सकते।

ग्रात्मा के विषय में जो पहला निश्चयात्मक विचार व्यक्त किया गया है, वह यह है कि 'इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहते हैं, इन्द्रियों से परे मन है, ग्रौर मन से परे बुद्धि है, ग्रौर बुद्धि से भी जो परे है वह ग्रात्मा है।'

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ३।४२

उपरोक्त श्लोक आत्मा की परिभाषा नहीं है, किन्तु यह हमारे चिन्तन को अनुशासित करता है कि आत्मा के विषय में विचार करते समय अथवा आत्मा से सम्बन्धित श्लोकों का अर्थ करते हुए आत्मा का अर्थ, शरीर और मन न ग्रहण किया जाय। आत्मा को शरीर, मन अथवा अन्तःकरण कहना गीता की अवहेलना करना है। दुर्भाग्य की बात है कि भाष्यकारों द्वारा स्थान-स्थान पर आत्मा को शरीर और मन कहा गया है। इस प्रकार गीता में जो आत्मा के विषय में कहा गया है, हम उससे दूर हो जाते हैं और आत्मा का अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ हो जाते हैं। अतएव आत्मा का अर्थ आत्मा ही किया जाये, तभी हम गीता में जो कुछ आत्मा के विषय में कहा गया है, उसे ग्रहण करने में समर्थ हो सकते हैं।

इसके उपरान्त आत्मा के विषय में जो दूसरा विचार गीता प्रस्तुत करती है कि—

'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्मुच्यते ।' ८।३

परम अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है।

ब्रह्म का स्वभाव अर्थात् प्राण का स्वभाव इन्द्रिय, मन और बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा पर आधारित होने के कारण अध्यातम कहा जाता है। यह विचार स्वतः ही एक प्रश्न उपस्थित करता है कि यह ब्रह्म का स्वभाव क्या है? गीता इस प्रश्न का भी उत्तर प्रस्तुत करती है—

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' ॥५।१९

क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है।

उपरोक्त तीन विचारों का समन्वय हमें एक निर्णय की ओर प्रेरित करता है कि 'प्राण की दोष हीनता और समता इन्द्रिय, मन और बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा पर आधारित है।'

यह विचार एक निर्विवाद सत्य है कि समुद्र की अतल गहराइयों में विचरने वाले जलचर, भूमि पर जीवन यापन करने वाले प्राणी, आकाश में उड़ते पक्षी, सभी में प्राण निर्दोष और समान रूप से विद्यमान है। विशालकाय ह्वेल, और हाथी में भी चींटी के समान ही प्राण है। अतीत में जो प्राणी हो चुके हैं, वर्तमान में जो हैं और भविष्य में जो होंगे—उनका आधार प्राण ही है। भौगोलिक परिस्थितियों की भिन्नता, असीम काल की गति, शरीर के आकार और इन्द्रियों

की विविधता जिसे प्रभावित नहीं करती—वह प्राण, प्राणीमात्र में समान रूप से निर्दोष भाव से विद्यमान है। यह विचार अध्यात्म अर्थात् आत्मा पर आधारित है। इसी चिन्तन में गीता एक और विचार जोड़ती है कि सब प्राणियों में आत्मा है, और सब प्राणी आत्मा में स्थित हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। ६।२९

जिसकी आत्मा योग युक्त है (ऐसा) सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को आत्मा में देखता है।

यह दृष्टिकोण की विशालता है कि चूँकि सब प्राणियों में निर्दोष और सम प्राण विद्यमान है, इसलिये सब प्राणी भी निर्दोष और सम हैं।

इससे भी आगे बढ़कर गीता प्रतिपादित करती है कि सब प्राणी आत्मा में हैं और सब ईश्वर में हैं।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भुतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।४।३५

जिसको जानकर फिर नहीं मोह में इस प्रकार से फँसोगे, पाण्डव, जिससे प्राणियों को देखेगा आत्मा में (स्थित) और मुझ में (अधियज्ञ में) स्थित है। तथा—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। १३।२७

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब प्राणियों में नाश रहित सम भाव परमेश्वर को स्थित देखता है, वही (यथार्थ) देखता है।

इस प्रकार यह देखना कि सब प्राणी आत्मा में स्थित अर्थात् ब्रह्म के स्वभाव में स्थित हैं, अर्थात् निर्दोष और सम हैं, और सब प्राणियों में ईश्वरत्व अर्थात् धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का भाव है यह मानव चिन्तन की पराकाष्ठा है। इस विचार से श्रेष्ठ विचार आज तक न प्रतिपादित हुआ है और न होगा। **यह हिन्दुओं की अध्यात्म धारणा है**। इसी धारणा को गीता में संकेत शब्द 'आत्मा' द्वारा व्यक्त किया गया है। उपरोक्त अध्यात्म धारणा के अतिरिक्त किसी भी शब्द अथवा विचार द्वारा 'आत्मा' का अर्थ ग्रहण करना संभव नहीं है। अतः गीता में वर्णित आत्मा सम्बन्धी सब विचारों का इसी आधार पर सम्यक् विवेचन आवश्यक है।

आत्मा का प्रभाव :

आत्मा का प्रभाव असीम है। यह मानव चिन्तन की अमूल्य निधि है। संसार के सभी धर्मों का यह आधार है। सभी धर्माचार्य मानव में समता और निर्दोषता का प्रचार करते हैं। आज तक जितने भी धार्मिक प्रवचन जिस किसी भी मंच से किये गये हैं वे मूल रूप से आत्मा पर ही आधारित हैं। प्रत्येक संत का जीवन इसी आत्मा का प्रतीक मात्र है। नानक, कबीर, रैदास, समर्थ रामदास ने अपने चरित्र तथा प्रवचनों द्वारा मानव की समता और निर्दोषता ही प्रतिपादित की है। इसी निर्दोषता और समता की धारणा के प्रभाव को प्रतिपादित करते हुए गीता इसे अधर्म की वृद्धि को रोकने का प्रबल साधन भी घोषित करती है। आत्मा द्वारा ही बलिदान भाव, ईश्वरतत्व अथवा अधियज्ञ की उत्पत्ति होती है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ४।६

अजन्मा भी होने पर, अविनाशी आत्मा (विश्वरूप) भी होने पर, सब प्राणियों का ईश्वर भी होते हुए, प्रकृति को अपने आधीन करते हुए प्रकट होता हूँ, आत्मा की शक्ति से।

(इस श्लोक में 'अव्यय आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है। अव्यय आत्मा का स्पष्टीकरण ११वें अध्याय में किया गया है। अर्जुन ने कहा 'दर्शयात्मानम व्ययम्'—हे योगेश्वर ! मुझे अविनाशी आत्मा का दर्शन कराइये। अर्जुन की इस अभिलाषा का समाधान करने के लिये भगवान ने अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराया। इस प्रकार अव्यय आत्मा और विश्वरूप सम वाच्य हैं।)

यह प्रतिपादित करने के उपरान्त कि आत्मा की शक्ति में से बलिदान का भाव जागृत होता है। गीता एक और तथ्य आत्मा और अधियज्ञ के सम्बन्ध में प्रतिपादित करती है कि अधियज्ञ द्वारा ही आत्मा का सृजन होता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ४।७

जब-जब ही धर्म की हानि होती है। हे भरतवंशी ! वृद्धि होती है अधर्म की तब-तब मैं आत्मा (अध्यातम धारणा) को प्रकट करता हूँ।

उपरोक्त श्लोक प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में क्रान्ति की पूर्व सन्ध्या के समय उद्घोषित होता है। मध्ययुग में हिन्दू जाति के पराभव के काल में नानक, कबीर और तुलसी द्वारा अध्यातम धारणा का सृजन किया गया। अंग्रेजों की दासता

के समय, यह आत्मभाव महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ की वाणी हुआ और सारे भू-मण्डल में छा गया। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के पूर्व वाल्टेयर और रूसो ने इस आत्मा का उद्घोष Liberty Fraternity Equality के द्वारा किया। रूस की क्रान्ति से पहले मार्क्स और लेनिन ने भी इसी आत्मा का उद्घोष किया।

इस प्रकार गीता एक महान् निर्विवाद सत्य प्रतिपादित करती है कि आत्मा की शक्ति से बलिदान भाव अधियज्ञ अर्थात् ईश्वरत्व प्रकट होता है और ईश्वर द्वारा ही अध्यात्म धारणा का आत्मा का सृजन होता है। बलिदान भाव शून्य अध्यात्म धारणा मात्र पाखण्ड, और अध्यात्म हीन बलिदान भाव मात्र नरसंहार ही है।

आत्मा का उल्लेख करते हुये इसके साथ ही गीता आत्मा के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत करती है—

(१) आत्म शोधन। (२) आत्मा का हनन। (३) आत्मा का संयम। (४) आत्मा और कर्मयोग। (५) आत्मा का अकर्ताभाव।

गीता के अनुसार नित्य निश्चयपूर्वक, निश्चित आसन पर बैठ कर आत्मा का शोधन करना चाहिये।

तत्रैकाग्रम् मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ ६।१२

उस स्थान पर आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को संयत करके आत्मा की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करना चाहिये। ६।१२

इस प्रकार गीता प्रेरणा देती है कि नित्य ध्यान योग द्वारा आत्मा को अशुद्ध न होने दिया जाये अर्थात् आत्मा को नित्य चिन्तन द्वारा काम, लोभ और क्रोध से मुक्त रखा जाये। कारण कि गीता के अनुसार काम, लोभ और क्रोध नरक के द्वार हैं और तीनों आत्मा का नाश करने वाले हैं और त्याज्य हैं।

जिस आसन पर बैठकर इस प्रकार का चिन्तन किया जाता है, गीता उसे आत्मा का स्थिर आसन कहती है।

स्थिरमासनम् आत्मनः (६।११)

अर्थात् इस आसन पर बैठकर इन्द्रियों की क्रियाओं पर विचार नहीं किया जाता, न ही मन से उठने वाले विचारों के लिये यह शासन है और न ही बुद्धि के व्यापार से इसका सम्बन्ध है। यह आसन केवल आत्म शोधन के लिये है।

केवल ध्यान ही आत्मा के शोधन का उपाय नहीं है। गीता कर्म को भी आत्म शोधन का मार्ग मानती है।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये ।। ५।११

'शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियों से भी आसक्ति को छोड़कर योगी आत्मा की बुद्धि के लिये कर्म करते हैं।'

यदि आत्मा का शोधन न किया जाय तो आत्मा, काम, क्रोध, लोभ के वशीभूत हो जाती है। इस प्रकार का मनुष्य आसुरी संपत्ति सम्पन्न अर्थात् असुर हो जाता है। उसके जीवित रहते हुए भी उसकी आत्मा मर जाती है, और वह—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।। १६।९

इस दृष्टि का सहारा लेकर वे उग्र कर्म करने वाले नष्टात्मा, अल्पबुद्धि सब का अहित करने वाले जगत का नाश करने के लिये उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार के व्यक्ति प्रत्येक समाज में, प्रत्येक काल में सदैव विद्यमान रहते हैं, जिनकी अध्यात्म धारणा अथवा आत्मा मर जाती है। इतिहास के पृष्ठ ऐसे व्यक्तियों के कृत्यों का बार-बार उल्लेख करते हैं, जिनने इस पृथ्वी को रक्त-रंजित किया और अपने पीछे दुःख और अत्याचार की कहानी छोड़ गये, तथा यह सब धर्म के नाम पर किया गया।

आत्मा और आत्म शोधन के समानान्तर ही गीता एक और भाव प्रस्तुत करती है—'आत्म संयम'। जिस प्रकार इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संयम अभीष्ट है, उसी प्रकार आत्मा का संयम भी अभीष्ट है। गीता के सन्दर्भ में यदि विचार करें तो स्पष्ट रूप से अर्जुन की समस्या अध्यात्म धारणा का असंयम अथवा अतिवाद ही तो थी। यद्यपि कौरव आततायी हैं किन्तु यह अपने ही तो हैं, इस प्रकार के चिन्तन को गीता अस्वीकार करती है।

आत्मा के अतिवाद पर आधारित पौराणिक कथायें, और अहिंसा के जैन तथा बौद्ध संस्करण गीता को मान्य नहीं हैं। इसलिये गीता स्थान-स्थान पर आत्म संयम का उद्घोष करती है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन्।
आत्म वश्यैर्विधेयात्मा प्रसादम् अधिगच्छति ।। २।६४

राग और द्वेष से छूटी हुई, आत्मा के आधीन इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ भी आत्मा को वश में कर लेने वाला प्रसन्नता प्राप्त करता है।

एवम् बुद्धिः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मनमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो काम रूपम् दुरा सदम् ।। ३।४३

इस प्रकार बुद्धि से परे जान कर वश में करके आत्मा को आत्मा से, मार दो काम रूप दुर्जय शत्रु को ।

निराशीर्यतचित्तात्मा । ४।२१

जिसका मन और आत्मा संयत है ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः । ५।७

जो योगयुक्त है (अर्थात् कर्मयोग में लगा हुआ है) जिसकी आत्मा शुद्ध है, जिसने आत्मा को जीता हुआ है, तथा जितेन्द्रिय है ।

गीता का छठा अध्याय बारम्बार आत्म-संयम की प्रेरणा देता है ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।। ६।६

आत्मा से आत्मा को जो जीत लेता है, उसका आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, और जो आत्महीन है, वह आत्मा से शत्रु जैसी शत्रुता करता है ।

इसी प्रकार गीता में स्थान-स्थान पर अनेक बार विजितात्मा 'नियतात्मभिः' शब्दों का प्रयोग किया गया है, और आत्मा को आत्मा से ही वश में करने का गीता उपदेश देती है । आत्म-संयम के विषय में गीता का निर्णायक उद्घोष है—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति पराम् गतिम् । १३।२८

क्योंकि सब में समभाव से स्थित्त ईश्वर को समान देखता हुआ आत्मा द्वारा आत्मा को नष्ट नहीं करता, अतः वह परम गति को प्राप्त होता है ।

आत्मा के अतिवाद के विरुद्ध यह गीता का महान् निर्णय है । यह स्पष्ट उद्घोष है कि जिस प्रकार आत्मा काम, क्रोध, लोभ द्वारा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा का अतिवाद भी आत्मा के नाश का कारण हो जाता है ।

निष्काम कर्म योग का आधार आत्मा है। गीता का कर्मयोग आत्मा का, अध्यात्म धारणा का एक भाग है । गीता इसी निष्काम कर्मयोग को प्रेरणा देने वाली विशुद्ध बुद्धि द्वारा आत्मा के संयम का उपदेश देती है ।

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषो व्युदस्य च ॥ १८।५१

विशुद्ध बुद्धि से युक्त धैर्य से आत्मा को संयत करके शब्दादिविषयों को त्याग कर राग और द्वेष को नष्ट करके ।

यह गीता द्वारा आत्मा का कर्मयोग को अर्पण करना है । आत्मा का प्रभाव ही कर्मयोग का आधार है, किन्तु यदि आत्मा द्वारा कर्मयोग के मार्ग में, अधर्म नाश के प्रयास में, बाधा अथवा भ्रम उत्पन्न होता है तो गीता निष्काम शुद्ध बुद्धि युक्त धैर्य से आत्मा के नियमन का स्पष्ट आदेश देती है । आत्मा का उद्देश्य कर्म को प्रेरणा द्वारा निष्काम कर्मयोग में परिवर्तित करना है, न कि इस मार्ग में बाधा उपस्थित करना है ।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जाये तो गीता में आत्मा कर्मयोग के प्रति समर्पित है ।

किन्तु कर्म और आत्मा के सम्बन्ध में गीता एक और विचार प्रस्तुत करती है । यद्यपि कर्म और यज्ञ प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपरिहार्य हैं, कर्म और यज्ञ के बिना मनुष्य और समाज का अस्तित्व ही संभव नहीं है, गीता आत्मा में ही रति रखने वाले, आत्मा में ही तृप्त रहने वाले व्यक्तियों को कर्म और यज्ञ की परिधि से मुक्त रखती है ।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ३।१७

जो परन्तु आत्मा में प्रीति करने वाला ही है, आत्मा में तृप्त, और मानव, आत्मा में ही सन्तुष्ट, उसके लिये कोई कार्य नहीं है ।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३।१८

उसके इस लोक में कर्म करने से प्रयोजन नहीं है, और उसका सब प्राणियों से कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है ।

कर्म योग और यज्ञ भारतीय चिन्तन के अमूल्य शब्द हैं, किन्तु काल के प्रभाव से यह योग नष्ट हो जाता है ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप । ४।२

काल के प्रभाव से कर्मयोग में निहित त्याग का भाव, यज्ञ में निहित बलिदान

का भाव, तिरोहित हो जाता है। कर्म मात्र स्वार्थ अथवा भोगवाद में परिवर्तित हो जाता है और यज्ञ केवल आडम्बर का प्रतीक मात्र बन कर रह जाता है।

किन्तु प्रत्येक काल में प्रत्येक देश में सदैव आत्म-तृप्त, आत्म-सन्तुष्ट संत समुदाय सदैव विद्यमान रहता है, जो मनुष्य मात्र को आत्मा के अस्तित्व का स्मरण कराता रहता है, और प्राणी मात्र को दोषहीन और सम मानता है। इस प्रकार के संत जीवन संघर्ष से परे होते हैं। गीता के अनुसार वे 'ज्ञानी भक्त' कहे गये हैं, और भगवान उन्हें 'मम आत्मा' कहते हैं।

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। ७।१८

परन्तु ज्ञानी मेरा आत्मा है, ऐसा मेरा मत है।

इस प्रकार से आत्मा के प्रभाव, आत्म-शोधन, आत्म-संमय आदि के विषय में स्पष्ट विचार व्यक्त करने के उपरान्त गीता आत्मा से संबंधित वास्तविकता पर आधारित एक अनोखा तथ्य व्यक्त करती है। यह तथ्य किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में नहीं पाया जाता है, किन्तु इसकी वास्तविकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ १३।२९

प्रकृति से ही जो और कर्मों को किया हुआ सब प्रकार से देखता है, तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही देखता है।

आत्मा को जो अकर्ता देखता है अर्थात् यह देखता है कि आत्मा, अध्यात्म धारणा, जीवन संघर्ष में अकर्ता है। वही वास्तविकता को समझता है। जीवन-संघर्ष के अपने नियम हैं। वह नियम आत्मा पर आधारित नहीं हैं। इसी भाव को गीता और स्पष्ट रूप से १८ वें अध्याय में प्रतिपादित करती है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १८।१३

हे महाबाहो! इन पाँच कारणों को मुझसे भली प्रकार से जानलो, जैसे कि वह सांख्य के सिद्धान्त में सब कर्मों की सिद्धि के लिये कहे गये हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १८।१४

पूर्व दृष्टान्त, कर्ता, तथा पृथक-पृथक साधन एवं भाँति-भाँति की अलग-अलग चेष्टायें और वैसे ही पाँचवा हेतु पुरुषार्थ।

उपरोक्त विश्लेषण पर एक विहंगम दृष्टि हमें गीता के आत्मा शब्द का अर्थ ग्रहण करने में सक्षम बनाती है।

१. जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि से श्रेष्ठ है वह आत्मा है। ३।४२

२. ब्रह्म का स्वभाव आत्मा पर आधारित होने के कारण अध्यात्म कहा जाता है। ८।३

३. ब्रह्म (प्राण) निर्दोष और सम है। ५।१९

उपरोक्त धारणा निर्विवाद, शुद्ध, वैज्ञानिक सत्य है।

उपरोक्त धारणा का ही विकास करते हुए योग युक्तात्मा अर्थात् जिसकी कर्मयोग आत्मा से युक्त है, निर्दोष प्राण की उपस्थिति प्राणी मात्र में होने के कारण।

४. सब प्राणियों में आत्मा है और सब आत्मा में स्थित है यह देखता है, अर्थात् सब प्राणी निर्दोष और सम हैं, तथा उसी निर्दोषता और समता में स्थित हैं।

५. इसके उपरान्त गीता इसी ज्ञान के आधार पर प्रतिपादित करती है, जिस प्रकार सब प्राणी आत्मा में स्थित हैं, वैसे ही ईश्वर (अधियज्ञ) में भी स्थित है।

उपरोक्त प्रतिपादन के उपरान्त गीता आत्मा के प्रभाव के विषय में कहती है।

६. आत्मा की शक्ति से ईश्वर अर्थात् अधियज्ञ उत्पन्न होता है, तथा—

७. बलिदान भाव ही अधर्म नाश की पूर्व-संध्या में आत्मा का सृजन करता है, इस प्रकार अधियज्ञ अर्थात् ईश्वर तथा आत्मा एक-दूसरे पर आश्रित हैं। आत्मा का इस प्रकार से असीम प्रभाव होते हुए भी—

८. काम, लोभ और क्रोध जो नरक के द्वार कहे गये हैं, वे आत्मा का नाश करने वाले हैं। (१६।२१) तथा

९. आसुरी सम्पत्ति संपन्न व्यक्तियों की आत्मा उनके जीवित रहते हुए भी मर जाती है। १६।९

अतएव—

१०. नित्य निश्चित आसन पर बैठकर आत्म-शोधन का प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात् आत्मा को काम, लोभ और क्रोध से मुक्त रखने का अभ्यास करना चाहिये। ६।१२

११. आत्मा की शुद्धि के लिये योगी शरीर, मन और बुद्धि से भी प्रयत्न करते हैं।

१२. यद्यपि आत्मा की क्षमता असीम है। यह क्रान्ति की जननी है, किन्तु यदि आत्मा का संयम न किया जाये, तो अधर्म नाश में यह प्रयोजनहीन हो जाती है। आत्मा का अतिवाद गीता स्वीकार नहीं करती है।

१३. आत्मा का संयम निष्काम कर्मयोग को प्रेरणा देने वाली शुद्ध बुद्धि द्वारा किया जाना चाहिये, जिससे कि आत्मा कर्मयोग के मार्ग में बाधा न उपस्थित करे, और आत्मा ही आत्मा की हत्या न करे।

१४. जो आत्मा में ही, तुष्ट आत्मा में ही प्रेम रखने वाले मनुष्य हैं, वह कर्म और यज्ञ की परिधि से मुक्त होते हैं।

१५. जीवन संघर्ष में आत्मा 'अकर्ता' है।

उपरोक्त धारणाओं का सम्यक अध्ययन हमें एक ही निर्णय की ओर प्रेरित करता है कि गीता में आत्मा सम्पूर्ण अध्यात्म धारणा का प्रतीक है।

माया : अस्तित्व रक्षणी शक्ति

गीता का चौथा महत्वपूर्ण शब्द माया है। गीता के अन्य महत्वपूर्ण शब्दों की भाँति कोश माया के अनेक अर्थ प्रस्तुत करते हैं—छल, कपट, प्रवंचना, ठगी; ऐन्द्रजाल आदि। मध्य युगीन आचार्य माया को अविद्या कहते हैं तथा यह भी कहते हैं कि—'अविद्या हि अव्यक्तम्' —अविद्या शब्द से अव्यक्त का बोध होता है। (ब्रह्म सूत्र भाष्य १, ४, ३) उपरोक्त शब्द प्रयोग गीता की शब्दावली से भिन्न है। गीता के अनुसार अव्यक्त 'ब्रह्म' का पर्याय है, माया का नहीं। अतएव गीता में वर्णित माया का अर्थ ग्रहण करने के लिये गीता को ही आधार मान कर इस दुविधाजनक स्थिति का निराकरण संभव है।

अन्य मूल शब्दों की भाँति गीता माया की निश्चित परिभाषा प्रतिपादित करती है तथा माया पर व्यवस्थित चिन्तन प्रस्तुत करती है।

गीता के अनुसार माया—'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' ७।१४

दैवी निःसन्देह त्रिगुणमयी मेरी माया दुस्तर है।

माया का अर्थ ग्रहण करने के लिये आवश्यक है कि माया के ३ गुणों पर विचार किया जाय।

प्रत्येक प्राणी जन्म से मृत्यु पर्यन्त दिन-रात अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने के लिये प्रयत्नशील रहता है। उसका सारा जीवन इसी भाव से ओतप्रोत रहता है, उसकी प्रत्येक क्रिया इसी लक्ष्य के प्रति समर्पित रहती है कि किसी न किसी प्रकार से अपने-आप को कायम रखा जाय। यह काम वह अपने सम्पूर्ण ज्ञान, कर्म, अज्ञान तथा जड़ता द्वारा सम्पन्न करता है। उपरोक्त चेष्टायें प्रकृति के ३ गुणों-सत्व, रज और तम से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार यह गुण प्राणी मात्र के लिये अपरिहार्य हैं।

इन गुणों का प्रभाव हम बड़ी सरलता से, प्रकृति के एक कोषिका के जीव अमीबा की जीवन-चर्या में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। यह अमीबा सृष्टि का आदि प्राणी है। इसका सारा शरीर एक कोषिका का होता है। यह इन्द्रिय विहीन अवयव हीन प्राणी है।

जब यह अनुभव करता है कि जल दूषित है अथवा प्रकाश असहनीय है, उन्हें सहने में वह समर्थ नहीं है, तो वह उस स्थान से हट जाता है। यह उस प्राणी का सामर्थ्यजन्य ज्ञान अर्थात् सतोगुण है।

इन्द्रिय विहीन यह प्राणी अपने सम्पूर्ण शरीर को मोड़ता हुआ, हिलाता हुआ, जीवन की सब क्रियायें करता रहता है। यह उसका रजोगुण है।

जब परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम हो जाती हैं, स्वयं की सामर्थ्य घट जाती है— उस समय यह प्राणी एक कवच की रचना कर, उसमें अपने-आप को सुरक्षित कर, पूर्णतया निष्चेष्ट हो जीवन-यापन करता रहता है।

इस प्रकार सृष्टि का आदि प्राणी, अव्यक्त प्राण का प्रथम व्यक्त रूप इन्द्रिय विहीन, अवयव हीन, देहधारी भी माया के इन तीन गुणों के अन्तर्गत ही अपनी सब क्रियायें करता है। इसी तथ्य का गीता सशक्त शब्दों में वर्णन करती हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ १४।५

सत्व, रज, तम यह प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण इस देह में बाँध लेते हैं, हे महाबाहो! अविनाशी देहधारी (प्राण) को।

इस प्रकार प्रकृति से उत्पन्न यह तीनों गुण व्यक्ति के शरीर में उसके जन्म के साथ ही उत्पन्न होते हैं।

गीता के अनुसार यह पुरुष अर्थात् देहधारी और प्रकृति अर्थात् माया अनादि है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १३।१९

प्रकृति और पुरुष दोनों को ही तू अनादि जान, विकार तथा गुणों को भी तू प्रकृति से ही उत्पन्न जान ।

इस प्रकार से गीता में जो क्षेत्र का अर्थात् शरीर का वर्णन है, उसके अनुसार महाभूत अहंकार बुद्धि 'अव्यक्त' प्राण के सहित दस इन्द्रियाँ, मन, इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुख स्थूल शरीर चेतना धृति आदि विकारों का समूह संक्षेप में क्षेत्र अर्थात् शरीर है । —(१३–५/६)

उपरोक्त शरीर और प्रकृति से उत्पन्न तीन गुण, अनादि हैं । कोई नहीं कह सकता कि इस पृथ्वी पर कब प्राण का प्रादुर्भाव हुआ, कब उसने शरीर धारण किया और कब उसका अस्तित्व रक्षिणी माया के तीन गुणों से संयोग हुआ । इस प्रकार पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनादि हैं, किन्तु इनका सम्बन्ध अविच्छिन्न ।

'कार्य, करण और कर्तापन की उत्पत्ति का हेतु प्रकृति कही गई है, तथा पुरुष, सुख और दुःखों के भोग का हेतु कहा गया है ।' – (१३/२१)

२. दैवी :

इस प्रकार जिस शक्ति द्वारा प्राणी अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखता है, जिसके द्वारा वह जीवन में संघर्षरत रहता है – उस त्रिगुणात्मक अस्तित्व रक्षिणी शक्ति को गीता माया कहती है, तथा ईश्वर के अंश प्राण (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । १५।७ — मेरा अंश जीवलोक में प्राण रूपा परा प्रकृति सनातन) के व्यक्त रूप अर्थात् शरीर के अस्तित्व की रक्षा में जो रात-दिन कार्यरत है, निश्चित ही वह माया दैवी शक्ति है ।

३. दुरत्यया :

इस माया का प्रभाव इतना व्यापक है कि मनुष्य की सब क्रियायें इसी के अन्तर्गत होती हैं । मनुष्य की कोई भी क्रिया इससे मुक्त नहीं है । समयानुसार परिस्थितिवशात प्रकृति से उत्पन्न गुण घटते-बढ़ते रहते हैं और शरीर की रक्षा करते हैं ।

गीता कर्ता, मनुष्य के आहार, यज्ञ, तप, दान, त्याग, ज्ञान, कर्म, बुद्धि, धृति और सुख का त्रिगुणात्मक वर्गीकरण करती है । और इस माया का प्रभाव प्रत्येक प्राणी पर इतना गहन है कि गीता मुक्त कण्ठ से स्वीकार करती है कि—'पृथ्वी में,

आकाश में अथवा देवताओं में तथा फिर इनके अतिरिक्त और कहीं वह नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त हो। (१८।४०)

इस प्रकार यह माया सब को व्याप्त करती है, यह माया की परिभाषा के अनुरूप 'दुरत्यया' है अर्थात् इसको पार करना—इससे मुक्ति पाना अति कठिन है।

स्वतः ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि माया से मुक्त क्यों हुआ जाये ? जिससे कोई मुक्त हो ही नहीं सकता, जो हमारे अस्तित्व को अक्षुण्ण रखती है, उससे मुक्ति का क्या प्रयोजन है ?

गीता उपरोक्त प्रश्न का समुचित उत्तर— सोलहवें अध्याय में प्रस्तुत करती है कि माया का अतिवाद आसुरी सम्पदा की उत्पत्ति का कारण है।

माया का स्थूल रूप जीवन-संघर्ष है। प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व के लिये संघर्षरत रहता है। मनुष्य अन्य प्राणियों से अपनी रक्षा के लिये संघर्ष करता है। मनुष्यों के भिन्न-भिन्न समुदाय आपस में लड़ते रहते हैं और एक ही समुदाय अथवा समाज के घटक भी एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं। इसी संघर्ष का अतिवाद मनुष्य के दृष्टिकोण को इतना संकुचित कर देता है कि वह नितान्त स्वार्थपरायण हो जाता है। उसका सारा व्यवहार उसके निजी स्वार्थ पर ही केन्द्रित हो जाता है। यह माया का अतिवाद है। यह जीवन-संघर्ष का वीभत्स रूप है। गीता के अनुसार यह आसुरी वृत्ति है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ १६।९

इस दृष्टि का सहारा लेकर उग्र कर्म करने वाले नष्टात्मा अल्प बुद्धि सबका अहित करने वाले जगत का नाश करने के लिये उत्पन्न होते हैं।

यह माया का अतिवाद ही आसुरी प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। जो माया अस्तित्व रक्षिणी है, वही माया अपने अतिवादी रूप में ब्रह्म के स्वभाव अध्यातम का नाश कर देती है, जो प्राण अमर, अविनाशी है— उसके स्वभाव को व्यक्ति अपने अस्तित्व-रक्षण के लिये समाप्त कर देता है। इस प्रकार शरीर के जीवित रहते हुए भी आत्मा मर जाती है, और यह कार्य माया द्वारा काम, लोभ और क्रोध के माध्यम से संपन्न होता है।

एक अत्यन्त ही भयावह स्थिति है। संसार के इतिहास में अनेक 'नष्टात्म' विख्यात सेना-नायक और सम्राट विद्यमान हैं, जिनने कि अनेक देशों की धरती को

रक्त से सींच दिया, और अन्त में स्वयं अपने ही बन्धु-बान्धवों द्वारा नाश को प्राप्त हुए।

यह माया का अतिवाद, अस्तित्व रक्षण का वीभत्स रूप, जीवन-संघर्ष का आत्मनाशक रूप, आघात-प्रत्याघात का उद्देश्यहीन, लक्ष्यहीन आसुरी क्रम, ही दुस्तर माया से पार जाने के पक्ष में प्रबलतम तर्क है। हमारा अस्तित्व रक्षण हमें असुर न बना दे। जिस समाज के द्वारा हमारा जीवन-यापन होता है, हम उसके ही नाश का कारण न बनें – इसलिये माया से पार जाना आवश्यक है।

यद्यपि गीता मनुष्य की सब प्रवृत्तियों का, क्रियाओं का त्रिगुणात्मक विश्लेषण करती है—किन्तु दुःख जो कि माया द्वारा ही उत्पन्न होता है, उसका त्रिगुणात्मक विश्लेषण गीता में नही है। दुःख मात्र दुःख होता है—न सात्विक, न राजसी, न तामसी। इस प्रकार दुःख माया की परिधि में नहीं आता। इसलिये दुःख का निराकरण माया द्वारा असंभव है। जो माया स्वतः ही दुःख की जननी है, वह दुःख का निराकरण नहीं कर सकती।

दुःख का निराकरण करने में समर्थ एकमात्र 'भक्ति' है। भक्ति का भी गीता में त्रिगुणात्मक वर्गीकरण नहीं किया गया है। माया से पार जाने का ब्रह्म प्राप्ति का एकमात्र साधन भक्ति अर्थात् समाज के प्रति श्रद्धा का भाव है।

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।' १४।२६

'मेरी और जो अव्यभिचारी भक्ति से सेवा करता है, वह इन तीनों गुणों को पार कर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है।'

भक्ति : समाज का आधार

गीता के ६ अध्याय, ७—१२ तक भक्ति प्रधान अध्याय कहे जाते हैं। कोश के अनुसार भक्ति का अर्थ अनुराग, श्रद्धा, सेवा है। यही भक्ति का आधार है। समाज के प्रति उपरोक्त भाव रखना ही समाज-जीवन का आधार है। जिस प्रकार विना कर्म के व्यक्ति का जीवन असंभव है, उसी प्रकार भक्ति के बिना समाज का अस्तित्व भी संभव नहीं है।

गीता के अनुसार भक्ति का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। गीता मनुष्य मात्र को भक्त ही मानती है। गीता में चार प्रकार के भक्तों का वर्णन है—

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥' ७।१६

'चार प्रकार के मुझे भजते हैं जन, उत्तम कर्म करने वाले, अर्जुन ! दुःखी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, हे भरत श्रेष्ठ !' इन शब्दों पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य मात्र भक्त है ।

१. **दुःखी**— संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन में कभी न कभी दुःख आता ही है । दुःखी को भक्त कहकर गीता चिन्तन को यह मानने के लिये प्रेरित करती है कि दुःख का निराकरण भक्ति है ।

२. **जिज्ञासु**— प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ जानना चाहता है, कारण कि कोई भी व्यक्ति पूर्ण ज्ञानी नहीं है । अतएव जिज्ञासु को भक्त कह कर गीता जिज्ञासा को स्वतः ही भक्ति घोषित करती है ।

३. **अर्थार्थी**— प्रत्येक मनुष्य को जीवन-यापन के लिये धन की आवश्यकता होती है । अतएव उत्तम कर्म करते हुए जीवन-यापन के लिये जो अर्थोपार्जन करते हैं, वे भी भक्त हैं । जीवन-यापन के लिये अर्थोपार्जन भक्ति का एक अंश है ।

४. **ज्ञानी**— प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ ज्ञान रहता है । ज्ञान द्वारा ही मनुष्य दुःखों का अन्त करता है, ज्ञान द्वारा ही अर्थोपार्जन होता है । इसी सन्दर्भ में भगवान कहते हैं कि—'इन चारों प्रकार के भक्तों में सदायुक्त अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी भक्त उत्तम है ।'

उपरोक्त उत्तम कर्म करने वाले भक्तों का वर्णन करते हुए, गीता के अनुसार भक्तों का एक सामान्य लक्षण है कि वे उदार होते हैं । कृपणता, संकीर्णता तथा कूप-मण्डूकता भक्ति के साथ निभ नहीं सकती ।

इस प्रकार गीता के अनुसार भक्ति समाज का आधार है । इसी सन्दर्भ में अन्य आचार्यों द्वारा जो भक्ति की परिभाषा की गई है, उन पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा भक्ति की जो परिभाषा की गई है, वह अत्यन्त सीमित अर्थ में की गई है ।

उदाहरणार्थ—

१. 'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः'—पूजा में अनुराग होना । —पाराशर

२. 'कथादिष्वति गर्गः'—कथा-कीर्तन में अनुराग होना । —गर्गाचार्य

३. 'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः'— आत्मा के अनुकूल विषयों में प्रीति होना । —शाण्डिल्य

४. 'नारदस्तु तर्दपिताखिल। चारिता तद्विसमरणे परमव्याकुलतेति'—
सब कर्मों को, भगवान को अर्पण करना और थोड़ा-सा भी विस्मरण होने से व्याकुल होना भक्ति है। —नारद

गीता के ६ अध्यायों में उपरोक्त भाव यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं. किन्तु भक्ति पर जो गीता में पूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया गया है—उसकी तुलना में यह विचार अत्यन्त गौण है। कोई भी आचार्य 'अर्थार्थी' को भक्त नहीं कहता, जबकि अर्थोपार्जन एक वास्तविकता है। अर्थोपार्जन के अभाव में न व्यक्ति का जीवन संभव है, न समाज का।

गीता के ६ अध्याय जो भक्ति प्रधान हैं, भक्ति के व्यापक प्रभाव को पूर्णतया प्रतिपादित करते हैं।

सातवाँ अध्याय—ज्ञान-विज्ञान योग कहा जाता है। इसमें प्रकृति का वर्णन किया गया है और परा प्रकृति को सारी प्रकृति का आधार बताया गया है। फिर प्रकृति के तीन गुणों का संक्षेप में वर्णन करने के उपरान्त ईश्वर के प्रति पूर्ण आस्था का आवाहन है। निश्चित रूप से यह महाभारतकालीन ज्ञान-विज्ञान का वर्णन है। पर इसके साथ ही, युग-युग में जो विज्ञान और ज्ञान की प्रगति हुई है और होती रहती है, यह उसे आत्मसात् करने का उद्घोष भी है, ज्ञान और विज्ञान के अभाव में आस्तिकता, अन्धविश्वास और कूप-मण्डूकता का प्रतीक बन कर रह जाती है। ज्ञान-विज्ञान भक्ति का पहला पद है।

आठवाँ अध्याय—अक्षर ब्रह्म योग उन लोगों का योग है जो यह प्रयत्न करते हैं कि 'न हम कभी बूढ़े हों न हम कभी मरें' (जरा मरण मोक्षाय) अर्थात् यह कालजयी महापुरुषों का योग है। महापुरुषों का जीवन समाज का दूसरा आधार—भक्ति का दूसरा पद है।

नवाँ अध्याय—'राज विद्या राज गुह्यम्' अर्थात् सर्वोपरि विद्या, सर्वोपरि रहस्य कहा जाता है। यह एक सर्वोपरि रहस्य है कि भक्ति क्रान्ति की जननी है। क्रान्ति द्वारा ही नीच, दुराचारी, शूद्र, वैश्य और स्त्रियाँ परम गति को प्राप्त होती हैं और तीनों वेदों के ज्ञाता, सोमरस का पान करने वाले निष्पाप व्यक्ति स्वर्ग से गिर कर नीचे मृत्यु लोक में आजाते हैं। यह भक्ति का तीसरा पद है।

१० वाँ अध्याय—विभूति योग कहा जाता है। इसमें अनेक भौगोलिक विभूतियों का, अनेक देवी-देवताओं का वर्णन है। कुछ-एक पशु-पक्षी आदि भी विभूति संपन्न कहे गये हैं। यह संक्षेप में समाज के मान-बिन्दुओं का, आदर-बिन्दुओं का वर्णन है। समाज के मान-बिन्दु, ईश्वर तुल्य हैं—यह भक्ति का चौथा पद है।

११वाँ अध्याय—विश्वरूप दर्शन कहा जाता है। विश्व के सन्दर्भ में संघर्ष ही सर्वोपरि है। सब विभूतियाँ, देवी-देवता विश्व-व्यापी संघर्ष में महत्वहीन हो जाते हैं। शवाच्छादित रणक्षेत्र इसका वास्तविक रूप है, यह तीर्थ-तुल्य है—यह भक्ति का पाँचवाँ पद है।

बारहवां अध्याय—भक्ति योग कहलाता है। इस अध्याय के अनुसार सब प्रकार की पूजा, सब प्रकार की उपासना के प्रति आदर का भाव रखना भक्ति का पाँचवाँ पद है।

गीता में भक्ति का यह रूप मायातीत है। परस्पर प्रेम, सद्भाव, आदर ही समाज-रचना का आधार है। माया के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति संघर्षरत रहता है। इस संघर्ष से स्वतः ही दुःख उत्पन्न होता है। इस दुःख का अन्त भक्ति द्वारा परस्पर प्रेम, सद्भाव द्वारा ही सम्भव है। सत्कर्म करते हुए, दुःख का निराकरण, जिज्ञासा की शान्ति, जीवन यापन के लिये अर्थोपार्जन और ज्ञान, यह भक्त के सामान्य लक्षण गीता की भक्ति का स्वरूप हैं। यही समाज रचना का आधार है।

अधिदैव : अर्थात् पुरुष

अर्जुन ने प्रश्न किया—

'अधिदैवम् किम् उच्यते'— अधिदैव क्या कहा जाता है?

भगवान ने उत्तर दिया—

'पुरुषः च अधिदैवतम्'— पुरुष और अधिदैव है।

ईश्वर, ब्रह्म और आत्मा के विषय में स्पष्ट धारणा व्यक्त करने के उपरान्त गीता सर्वोपरि दैव के विषय में अपना मत प्रतिपादित करती है कि पुरुष स्वयं ही सर्वोपरि देवता है।

उपनिषद् चिन्तन-परम्परा में भी अधिदैव का निर्णय किया गया है।

भिन्न-भिन्न उपनिषद् भिन्न-भिन्न देवताओं को अधिदैव कहते हैं। इन सबके प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखते हुए लोकमान्य तिलक सूर्य, वरुण आदि देवताओं में जो स्थित पुरुष है, उसे अधिदैव मानते हैं।

संत ज्ञानेश्वर के अनुसार—

जिसे लोग साधारणतया 'जीव' कहते हैं, वह इसी पंच भूतात्मक शरीर पिण्ड में का अधिदैवत है।

जगद्गुरु आदि शंकराचार्य द्वारा— (१) जिससे सब जगत परिपूर्ण है। (२) अथवा जो शरीर रूपी पुर में निवास करने वाला है, वह पुरुष अथवा (३) सब प्राणियों के इन्द्रियादि करणों का अनुग्राहक सूर्य लोक में रहने वाला हिरण्यगर्भ अधिदैवत है।

उपरोक्त धारणायें स्वतः ही अनिश्चयात्मक हैं। इनसे ईश्वर का बोध कराया गया है, ऐसा मानने पर भी गीता-चिन्तन के मार्ग में दुविधा उत्पन्न होती है। कारण कि गीता में ईश्वर अधियज्ञ कहा गया है, अधिदैव नहीं।

संत ज्ञानेश्वर जिसे जीव कहते हैं, वह गीता का अक्षर ब्रह्म है—अधिदैव नहीं।

अतएव गीता में वर्णित पुरुष पर विचार करना होगा। मुख्य रूप से गीता तीन पुरुषों की सत्ता प्रतिपादित करती है—(१) अक्षर पुरुष ब्रह्म (२) क्षर पुरुष--सब भूत अर्थात् पंच महाभूत (३) इनमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तम पर पुरुष अथवा परमात्मा।

जो अक्षर ब्रह्म अर्थात् प्राण तथा पंच महाभूतों के संयोग से बना है, जो न मात्र क्षर और न अक्षर है और न ही पर पुरुष है—वह साधारण मनुष्य ही गीता का पुरुष है। इस शरीर में ईश्वरीय विभूति 'पौरुष' जिसमें विद्यमान है, वह मनुष्य ही सर्वोपरि दैव है।

पर पुरुष और परमात्मा शब्द एक-दूसरे के पर्याय माने जाते हैं, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि आत्मा और पुरुष एक-दूसरे के पर्याय हैं।

१. गीता में आत्मा बुद्धि से श्रेष्ठ तत्व है, पुरुष के विषय में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है।

२. आत्मा अकर्ता माना जाता है, पुरुष सुख-दुःख भोगने का हेतु कहा गया है।

३. जिस व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है, वह उसी के अनुरूप हो जाता है। आत्मा सब प्रकार के प्रभावों से मुक्त माना जाता है।

४. पुरुष प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति के गुणों को भोगता है। आत्मा सर्वदा निर्लिप्त रहता है—

इस प्रकार व्यक्ति स्वयं ही अधिदैव अथवा सर्वोपरि दैव है। जितना हित मनुष्य स्वयं अपना कर सकता है, उतना उसका हित न कोई देवी-देवता, न तंत्र-मंत्र कर सकते हैं।

गीता का यह श्लोकांश संसार के सारे पाखण्ड को नष्ट करने में समर्थ है। हजारों वर्ष पहले जो कहा गया, आज भी उतना ही सच है।

'पुरुषश्चाधिदैवतम्।'

कर्म : प्रेरणादायक त्याग

गीता का सातवां महत्वपूर्ण शब्द 'कर्म' है। अन्य विषयों की भांति कर्म तथा उससे सम्बन्धित शब्दों की भी गीता में निश्चित परिभाषा की गई है। इन्हीं शब्दों के आधार पर कर्मयोग (जो कि वर्तमान युग में गीता का सर्वाधिक प्रचलित शब्द है) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। इन शब्दों पर विचार करने से कर्मयोग क्या है, यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

अर्जुन ने प्रश्न किया—

'किं कर्म पुरुषोत्तम ?'— पुरुषोत्तम कर्म क्या है ?

भगवान ने उत्तर दिया—

'भूत भावोद्भव करो विसर्गः कर्म संज्ञितः'—भूतों के भावों को जो उत्पन्न करने वाला त्याग है, वह कर्म कहा जाता है।'

उपरोक्त परिभाषा दो भाव व्यक्त करती है—

१. कर्म मूल रूप से त्याग है।

२. त्याग भी तभी कर्म है जबकि वह प्रेरणादायक हो। गीता के अनुसार प्रेरणाहीन त्याग कर्म नहीं है। अतः गीता के अनुसार मीराबाई का संन्यास, पन्ना दाई का बलिदान, भामाशाह का त्याग, प्रेरणादायक त्याग तथा इसी कोटि के अन्य इतिहास-प्रसिद्ध त्याग ही कर्म हैं।

उपरोक्त परिभाषा को स्वीकार करते हुए गीता कहती है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्। ४।१६

'कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषय में बुद्धिमान भी मोहित हो गये हैं, किन्तु मैं तुमसे वह कर्म कहूँगा जिसको जानकर तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ ४।१७

क्योंकि कर्म का भी तत्व जानना चाहिये और जानने योग्य है, तत्व विकर्म का और अकर्म का रहस्य भी जानना आवश्यक है, (क्योंकि) कर्म की गति गहन है।

उपरोक्त श्लोकों में कर्म, अकर्म और विकर्म शब्दों का प्रयोग किया गया है। कर्म की निश्चित परिभाषा होने के कारण इन शब्दों का अर्थ भी गीता में से ही खोजना चाहिये।

विकर्म अर्थात् वर्जित कर्म का अर्थ सोलहवें अध्याय में किया गया है, और स्पष्ट रूप से कहा गया है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ १६।२१

तीन प्रकार के यह नरक के द्वार आत्म नाशक काम, क्रोध और लोभ अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

इन दो शब्दों का अर्थ स्पष्ट होने पर 'अकर्म' पर विचार करना आवश्यक है। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य के अनुसार अकर्म का अर्थ चुप होकर बैठ रहना है। (तूर्ष्णीभावस्य बोद्धव्ययम) अन्य भाष्यकार भी इसका अर्थ कर्म का न होना ही करते हैं। यह भाव गीता के अनुरूप नहीं, कारण कि गीता के अनुसार कर्म और अकर्म एक-दूसरे के समतुल्य ही हैं।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ ४।१८

जो कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कर्म और अकर्म में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार कर्म मूल रूप से त्याग है, उसी प्रकार से अकर्म भी त्याग है। इन दोनों का अन्तर भी गीता द्वारा निश्चित किया गया है।

परिभाषा के अनुसार प्रेरणादायक त्याग कर्म माना गया है। इसके विपरीत—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ ३।८

इसलिये नियत कर्म करो, अर्जुन! कर्म अकर्म से श्रेष्ठ है। शरीर-यात्रा भी और तुम्हारी ख्यातिमयी न होगी अकर्म से।

उपरोक्त श्लोक अर्जुन को नियत कर्म अर्थात् युद्ध के लिये प्रेरित करते हुए कहा गया है। युद्ध में विजय प्राप्त करना अथवा शरीर त्याग करना दोनों ही प्रेरणादायक हैं। इसके विपरीत युद्ध से विमुख होकर साधारण जीवन व्यतीत करने से शरीर-निर्वाह तो संभव है, किन्तु जीवन प्रसिद्धि रहित, प्रेरणाहीन होगा।

उपरोक्त विवेचन के अनुसार अकर्म का अर्थ 'प्रेरणा-रहित' त्याग। उदाहरणार्थ पन्ना दाई का कृत्य 'कर्म' और जो माता अपने बच्चे को दूध पिलाकर पालती है, वह अकर्म।

अकर्म कर्म के तुल्य है। यह घोषित कर भगवान बहुजन समाज को सब प्रकार की हीन भावना से मुक्त करते हैं। इसी भाव की पुष्टि करते हुए गीता कहती है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ ६।१

आश्रय त्याग कर कर्म-फल का करने योग्य कर्म जो करता है, वही संन्यासी है, अग्निहीन और क्रियाहीन न संन्यासी है और न योगी।

कर्म-अकर्म और विकर्म का अर्थ निश्चित होने पर गीता अकर्म में से कर्म के विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।

अपने कर्म अथवा अकर्म के विषय में किसी भी प्रकार की हीन भावना न रहे, गीता कर्म को धर्म मानकर घोषित करती है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ २।४०

इस योग में आरम्भ करने की क्षमता का नाश नहीं है। थोड़ा-सा आचरण भी इस धर्म का बचा देता है, महान् भय से।

इस प्रकार से कर्त्तव्य-पालन के लिये प्रेरणा देते हुए गीता, इसे निश्चयात्मक बुद्धि से करने के लिये प्रेरणा देती है। इसके साथ ही व्यक्ति को उन लोगों से बचने के लिये सावधान करती है, जो इस मार्ग में भ्रम उत्पन्न करते हैं। उदाहरणार्थ, वेदवादी (अनुभवशून्य पोथीवादी), इसके अतिरिक्त कुछ नहीं, अर्थात् समस्या को एक ही दृष्टि से देखने वाले, भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति रखने वाले आदि, कारण कि इनकी बुद्धि सफलता को प्राप्त नहीं होती। (३।२-४२-४४)

इसी निश्चयात्मक बुद्धि से काम करते हुए व्यक्ति की पहली उपलब्धि कि वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है अर्थात् वह कर्म पर आश्रित नहीं होता, कर्म स्वयं उसके पास आ जाता है। इसी मार्ग की दूसरी उपलब्धि कि वह जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है अर्थात् कर्म द्वारा ही वह सामाजिक दायित्वों को पूरा करता है।

इसी क्रम में यदि प्रसंग उत्पन्न हो तो वह व्यक्ति अपने कौशल द्वारा अकर्म

को कर्म में परिवर्तित कर देता है और आने वाली पीढ़ियों के लिये प्रेरणा का स्रोत हो जाता है।

इतना होते हुए भी वह व्यक्ति कर्मफल-त्याग की स्थिति में रहता है। कर्मफल का अर्थ गीता के अनुसार कर्म-जन्य सिद्धि और उस सिद्धि को लोकसेवा के के लिये अर्पित करना, उसके द्वारा स्वत: के स्वार्थ की वृद्धि न करना, गीता का कर्मफल-त्याग है। यह कर्म की सर्वोच्च गति है।

उपरोक्त विवरण गीता के कर्मयोग का संक्षिप्त उल्लेख है। यह कोई मात्र सुदूर इतिहासातीत कल्पना नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रत्यक्ष दिखने वाले सत्य हैं। इतिहास के एक ही उदाहरण से कर्मयोग सम्बन्धी सब शब्दों के अर्थों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

महाराणा सांगा की मृत्यु के उपरान्त उनके छोटे पुत्र उदयसिंह के पालन-पोषण के लिये पन्ना दाई की नियुक्ति हुई। इस नियुक्ति से यह स्पष्ट है कि वह तत्कालीन सब दाइयों में श्रेष्ठ थी। अपने व्यवसाय में वह सिद्ध थी, इस प्रकार वह कर्म-बन्धन से मुक्त थी। अपने पुत्र के पालन-पोषण के प्रति भी वह निश्चित थी, इस प्रकार वह जन्म-बन्धन से भी मुक्त थी। इस अवस्था में भी वह अकर्म में स्थित थी। यदि बनवीर, उदयसिंह की हत्या करने के लिये नहीं आता, तो इतिहास में पन्ना दाई का कहीं पर नामोल्लेख भी नहीं होता।

उदयसिंह के बड़े भाई विक्रमजीत की हत्या का समाचार सुनकर उसने तुरन्त उदयसिंह को सब्जी की टोकरी में रखकर दुर्ग के बाहर भेज दिया, और अपने पुत्र को उदयसिंह के स्थान पर, सुला दिया। बनवीर के पूछने पर कि "पन्ना, उदयसिंह कहाँ है?" पन्ना ने अपने पुत्र की ओर संकेत किया। बनवीर ने तुरन्त उसकी हत्या करदी। जिस कौशल से पन्ना दाई ने अपने पुत्र को कटवा दिया, वह कर्मयोग है, यह गीता का—

"योग: कर्मसु कौशलम्'

एक क्षण में अकर्म कर्म में परिवर्तित हो गया। इसके उपरान्त भी पन्ना दाई ने अपने लिये कोई विशेष पद या आदर की अपेक्षा नहीं की। पन्ना दाई आजीवन दाई ही रही, कर्म-जन्य सिद्धि को योग में परिवर्तित करके भी अपने लिये कोई जागीर नहीं माँगी। यह उसका कर्मफल-त्याग, मानव मात्र के लिये प्रेरणा का अजस्र स्रोत—गीता का अमर सन्देश, कर्म की सर्वोच्च गति—कर्म योग की जीवित व्याख्या है।

जरामरण मोक्षाय, अन्तकाल, जन्म, पुनर्जन्म

उपरोक्त शब्द गीता चिन्तन के अभिन्न अंग हैं। अन्य शब्दों के साथ इन शब्दों के अर्थ स्पष्ट होने पर गीता पूर्णतया हृदयंगम हो जाती है।

'गीता का स्पष्ट उद्घोष है कि जिसका शोक नहीं करना चाहिये, उसका शोक करता है और बुद्धिवादियों जैसी बात करता है, परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये पण्डित लोग शोक नहीं करते।'
(२।११)

उपरोक्त श्लोक गीता का बीज-मंत्र माना जाता है। यह श्लोक स्पष्ट ध्वनित करता है कि पार्थिव शरीर का जन्म तथा पार्थिव शरीर की मृत्यु गीता-चिन्तन का विषय नहीं है। इसी सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि सातवें अध्याय में गीता के मूल शब्दों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इन शब्दों को वे ही जान लेते हैं जो "बुढ़ापे और मृत्यु से मुक्त होने के लिये मेरे आश्रित होकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जान लेते हैं।"
(७।२९)

('जरा मरण मोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये')

'जरा मरण मोक्षाय'—अर्थात् जो प्रयत्न करते हैं कि न हम कभी बूढ़े हों और न ही हम कभी मरें, वे ही गीता के मूल शब्दों को जान लेने में समर्थ हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है कि पार्थिव शरीर मरणशील है। यह निश्चित रूप से मृत्यु को प्राप्त होता है और यदि अकाल मृत्यु न हो तो यह वृद्धावस्था को भी प्राप्त होता है। यह स्वीकार करते हुए भी यदि महापुरुषों के जीवन का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि उनका जीवन इतना महान् था कि उसकी तुलना में उनकी मृत्यु और वृद्धावस्था पर विचार करना अर्थहीन है। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य, गोस्वामी तुलसीदास, भगवान रामकृष्ण परमहंस, महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी की मृत्यु गौण ही नहीं, विचार करने योग्य भी नहीं है। उनके महान् कृत्यों पर ही विचार करना अभीष्ट है। इस प्रकार जीवन को महान् बनाना ही गीता का 'जरा मरण मोक्षाय' अर्थात् बुढ़ापे और मृत्यु से मुक्ति पाने का मार्ग है।

इसी सन्दर्भ में अन्तकाल अथवा प्रयाण काल का अर्थ स्वतः ही भौतिक मृत्यु से भिन्न हो जाता है। हृदय की गति रुकने के लिये, तथा श्वास-प्रश्वास की क्रिया समाप्त होने के लिये तथा इन साधारण घटनाओं का अर्थ जानने के लिये वृद्धावस्था

श्रौर मृत्यु से मोक्ष प्राप्त करने के लिये यत्न करने का उल्लेख ही अप्रासंगिक है। भौतिक शरीर की मृत्यु और 'जरा मरण मोक्षाय' परस्पर विरोधी विचार है।

वृद्धावस्था श्रौर मृत्यु से मोक्ष पाने के लिये जब व्यक्ति अपने जीवन को महान् बनाने के लिये अथवा किसी महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिये अन्तिम निर्णय लेता है श्रौर इसके साथ ही शरीर के प्रति आसक्ति त्याग कर आगे बढ़ता है, वह उसका अन्तकाल अथवा प्रयाण काल होता है। वह उसके जीवन की अनमोल घड़ी होती है। यह वह घड़ी है जिसमें बालक मूलशंकर घर छोड़कर सत्य की खोज में निकलता है श्रौर महर्षि दयानन्द बन जाता है। यह क्षण समर्थ रामदास द्वारा विवाह मण्डप के त्याग का क्षण है। इसी क्षण गौतम बुद्ध ने संसार के समस्त प्राणियों को दुःख से मुक्ति दिलाने के लिये राजमहलों का त्याग किया। इसी क्षण में शरीर के प्रति आसक्ति त्याग कर (स्मरन मुक्तवा कलेवरम्) महाराणा प्रताप पत्तल पर भोजन करने लगे, शय्या त्याग कर चटाई पर सोने लगे और राजमहल छोड़कर झोंपड़ों में रहने लगे।

इसी प्रकार गीता में जन्म का अर्थ भी साधारण जन्म से भिन्न है। गीता के अनुसार यह शरीर क्षेत्र अर्थात् खेत है श्रौर जो इसे जानता है वह क्षेत्रज्ञ अर्थात् ईश्वर है। क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का संयोग ही जन्म है।'

'हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन! जितना जो कुछ भी स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न होता है, उस सबको क्षेत्र (जीवित शरीर) श्रौर क्षेत्रज्ञ के संयोग से जान।' १३।२६

जब तक जीवित शरीर का क्षेत्रज्ञ से संयोग नहीं होता, तब तक गीता के अनुसार यह शरीर मात्र भूत प्रकृति में स्थित है, उसका जन्म हुआ ही नहीं। जीवन की सार्थकता ईश्वर से अधियज्ञ के साथ संयोग से है।

इसी क्रम में यदि पुनर्जन्म पर विचार करें तो पुनर्जन्म अन्तकाल श्रौर जन्म के बीच की स्थिति है। इस स्थिति में ध्येय-पथ का पथिक बारम्बार अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिये बाध्य होता है अर्थात् बारम्बार अन्तकाल को प्राप्त होता है, श्रौर फिर क्षेत्र श्रौर क्षेत्रज्ञ के संयोग के लिये अग्रसर होता है, अर्थात् जन्म को प्राप्त होता है।

इसी सन्दर्भ में गीता में वर्णित शुक्ल एवम् कृष्ण गति, पुनर्जन्म एवम् पुनरावृत्ति योगभ्रष्ट व्यक्ति की गति, दूसरी देह की प्राप्ति तथा नवीन देह की प्राप्ति आदि सब समस्यायें गीता के अन्तकाल अर्थात् अपने जीवन के विषय में निर्णय करने की अन्तिम घड़ी श्रौर जन्म अर्थात् ईश्वर से संयोग के क्षण में जो अन्तराल

है, यह उसकी समस्यायें हैं। पार्थिव देह की मृत्यु और जन्म तथा उससे संबंधित पुनर्जन्म की धारणा गीता-चिन्तन का विषय ही नहीं है।

गीता के मूल शब्दों पर विचार करने के उपरान्त सहज ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि गीता की मूल विचारधारा क्या है?

गीता आर्ष ग्रन्थ है। गीता की मूल विचारधारा यज्ञ ही है। गीता के अनुसार कर्म का आधार यज्ञ, भक्ति का भी आधार यज्ञ तथा जिस ब्रह्म का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार भाव-विभोर हो उठे, उस ब्रह्म का भी आधार यज्ञ ही है। यह सारा वर्णन अत्यन्त काव्यात्मक है, गीता में यज्ञ ही यज्ञ धर्म का प्रोक्ता है।

अन्त में, टीका की भाषा के सम्बन्ध में दो शब्द कहना उचित है। साधारणतया सभी भाष्यकार आरम्भ में श्लोक लिखते हैं, फिर श्लोक के प्रत्येक शब्द को पृथक-पृथक लिखते हैं, अन्त में उनका अन्वय करके अर्थ लिखते हैं।

गीता प्रतिपादित टीका में श्लोकार्थ करते समय अधिकांश श्लोकों का अन्वय नहीं किया गया है। मूल संस्कृत में श्लोकों का जो शब्द-क्रम है, उसी क्रम से हिन्दी में शब्दार्थ किया गया है। निश्चित रूप से इसके द्वारा पाठक को पढ़ने में असुविधा होगी, पाठक को धीरे-धीरे पढ़ना पड़ेगा तथा बार-बार रुकना पड़ेगा।

किन्तु इस पद्धति द्वारा स्वतः ही गंभीर चिन्तन की प्रवृत्ति विकसित होती है, जो गीता अध्ययन के लिये आवश्यक है। आशा है कि इस असुविधा के लिये प्रबुद्ध पाठक मुझे क्षमा करेंगे, तथा 'गीता प्रतिपादित टीका' में गीता अध्ययन के जो शुद्ध वैज्ञानिक आधार हैं (गीता के मूल शब्दों के लिये गीता ही प्रमाण है, तथा एक शब्द का एक ही अर्थ है) उन पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे तथा अपने अमूल्य चिन्तन द्वारा भगवान की वाणी के प्रति आदर व्यक्त करेंगे।

▭ वसन्त पंचमी, १९८७ —कमल किशोर

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।। ४०

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।। ४१

कुलक्षय से नष्ट हो जाते हैं कुलधर्म सनातन, और धर्म का नाश हो जाने पर कुल को अधर्म दबा लेता है।

हे कृष्ण ! अधर्म की अभिवृद्धि होने पर कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्ण-संकर उत्पन्न होता है ।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।१।।

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से पंक्तिबद्ध हो मेरे अपनों और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया, संजय ?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।।२।।

तब राजा दुर्योधन ने पाण्डव सेना को व्यूहबद्ध देखकर आचार्य (द्रोणाचार्य) के पास जाकर इस प्रकार वचन कहा ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।।३।।

देखिये पाण्डु-पुत्रों की, आचार्य ! इस विशाल सेना को व्यूहित की गई द्रुपद-पुत्र आपके शिष्य बुद्धिमान धृष्टद्युम्न द्वारा।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।।४।।

इस सेना में महान् धनुर्धारी हैं जो युद्ध में भीम, अर्जुन के समान हैं; युयुधान (परम पराक्रमी सात्यकि) विराट तथा द्रुपद, महारथी।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ।।५।।

धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान काशीराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, तथा शैब्य, नरश्रेष्ठ ।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान उत्तमौजा, सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु, द्रौपदी के पुत्र, सब ही महारथी

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हमारी ओर के जो विशिष्ट योद्धा हैं, उनको जान लीजिये, द्विज श्रेष्ठ ! नायक जो मेरी सेना के हैं, आपकी जानकारी के लिये, उनको भी बताता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

आप और भीष्म, कर्ण, संग्रामजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

और भी अनेक शूर मेरे लिये प्राण देने को उद्यत, नाना प्रकार के शस्त्रों को चलाने वाले, सभी युद्ध-विद्या में निपुण हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषाँ बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अपर्याप्त (असीम) है यह हमारी भीष्म द्वारा रक्षित (होते हुए भी) और भीम के द्वारा रक्षित उनकी सेना पर्याप्त (सीमित) है ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिये सब मोर्चों पर अपने-अपने नियत स्थानों पर रहते हुए, पितामह की निश्चयपूर्वक रक्षा करें, आप सब ही ।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखंदध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तब हर्ष उत्पन्न करते हुए, कुरु-कुल के वृद्ध प्रतापी पितामह भीष्म ने सिंहनाद के समान ध्वनि करते हुए ऊँचे स्वर से शंख बजाया ।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।१३।।

इसके पश्चात् शंख, भेरी, ढोल, नरसिंहे तथा मृदंग सहसा ही बजने लगे, और उनका शब्द तुमुल हो गया ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ।।१४।।

इसके पश्चात् सफेद घोड़ों से जुते हुए विशाल रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये ।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१५।।

हृषीकेश (इन्द्रियजयी) भगवान कृष्ण ने पाञ्चजन्य, धनञ्जय (धन को जीतने वाले, धन से अप्रभावित) अर्जुन ने देवदत्त, भयानक कर्म करने वाले और भेड़िये जैसे उदर वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया ।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१६।।

कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय शंख, नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणि पुष्पक शंख बजाये ।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।।१७।।

सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी काशिराज और महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न, विराट् एवम् अजेय सात्यकि तथा—

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ।।१८।।

हे पृथ्वीपति राजा धृतराष्ट्र ! द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रों एवम् महाबाहु अभिमन्यु और सबने अलग-अलग शंख बजाये ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१९।।

और उस तुमुल घोष ने पृथ्वी तथा आकाश को गुंजायमान करते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय भी विदीर्ण कर दिये ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्टवा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

इसके उपरान्त कौरवों को व्यवस्थित देखकर कपिध्वज (जिसकी ध्वजा कपि-चिन्हित थी) अर्जुन ने शस्त्र-प्रहार की तैयारी के समय धनुष उठाकर—

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

हे राजन् ! इन्द्रियजयी श्रीकृष्ण से यह वचन कहे ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिये ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जिससे मैं इन युद्ध की कामना से खड़े हुओं को देख लूँ और यह जान सकूँ कि मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

उन युद्ध करने वालों को, मैं देखूँगा, जो-जो ये यहाँ आये हुए हैं, धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि-पुत्र का प्रिय करने की इच्छा से ।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

हे भरतवंशी राजा धृतराष्ट्र ! इस प्रकार निद्राजयी अर्जुन के कहने पर इन्द्रियजयी श्रीकृष्ण ने उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में, स्थापित करके—

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

भीष्म, द्रोण के और सब राजाओं के सन्मुख ले जाकर कहा— हे पार्थ ! इन पंक्तिबद्ध कौरवों को देख ।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

वहाँ देखा स्थित पार्थ ने पिता के सदृशों को, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों और मित्रों को।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

दोनों ही सेनाओं में श्वसुरों और सुहृदों को (स्नेहियों को) भी देखा। उन खड़े हुए सब बन्धु-बान्धवों को देखकर वह अर्जुन—

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अत्यन्त करुणा से अभिभूत हुआ और विषादग्रस्त होकर यह बोला।

अर्जुन उवाच

दृष्टवेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

इन युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए अपने ही स्वजनों को देख कर।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

शिथिल हुए जाते हैं मेरे अंग और मुख सूख रहा है, कम्पित हो रहा है शरीर मेरा, रोमांच हो रहा है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

गाण्डीव धनुष हाथ से गिरा जा रहा है। त्वचा भी जली जा रही है। खड़े रहने में समर्थ नहीं हूँ, और मेरा मन भ्रमित हो रहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

और हे केशव, मैं उलटे (अशुभ) लक्षण भी देखता हूँ। युद्ध में स्वजनों को मारकर, कल्याण भी नहीं दिखाई देता है।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण ! मैं विजय नहीं चाहता, और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता। हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या; और भोगों से तथा जीवन से भी क्या प्रयोजन है।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

जिनके लिये हमें राज्य भोग और सुख अभीष्ट हैं, वे ही ये सब, धन और जीवन की आशा त्याग कर युद्ध में खड़े हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

आचार्य गण, पिता के संबन्धी, पुत्र और इसी प्रकार ही दादा, मामा, श्वसुर, पौत्र, साले, तथा (अन्य) सम्बन्धी हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन ! मारने पर भी इनको, पृथ्वी के लिए तो क्या, तीनों लोकों के राज्य के लिये भी मैं नहीं मारना चाहता हूँ।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियों की हत्या करके तो हमें पाप ही लगेगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिये नहीं है उचित हमें मारना धृतराष्ट्र के पुत्रों को, अपने बान्धवों को, अपनों को ही मारकर हम कैसे सुखी होंगे, माधव !

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोषों को और मित्रों से द्रोह करने में पातक (दुष्कर्म जनित अधोगति) को भी नहीं देखते हैं।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

क्यों न विचार करें, इस पाप से बचने के लिये—कुल-क्षय से उत्पन्न दोषों को देखने वाले हम लोग, हे जनार्दन !

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलक्षय से नष्ट हो जाते हैं कुलधर्म सनातन, और धर्म का नाश हो जाने पर सारे कुल को अधर्म दबा लेता है ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण ! अधर्म की अभिवृद्धि होने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं । हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

वर्णसंकर कुलघातियों और कुल को नरक में ले जाने के लिये ही होता है । गिर जाते हैं पितर भी उनके और लुप्त हो जाती है पिण्ड और जल की क्रिया ।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

दोषों से इन वर्णसंकर, उत्पन्न करने वाले कुलघातियों के उखड़ जाते हैं, जातिधर्म और सनातन कुलधर्म ।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन ! जिनका कुलधर्म उखड़ गया है, उन मनुष्यों का अनिश्चित समय तक नरक में वास होता है, ऐसा सुना है ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

हा ! खेद की बात है कि बहुत बड़ा पाप करने का व्यवसाय करने लगे हम लोग, राज्य के सुख-लोभ के लिये, मारने के लिये अपने जनों को उद्यत हो गये ।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि मुझ शस्त्ररहित सामना न करने वाले को, शस्त्र लेकर धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में मारें, वह मेरे लिये अति कल्याणदायक होगा ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

इस प्रकार कह कर अर्जुन रणभूमि में रथ के पिछले भाग में बैठ गये, त्याग कर बाण सहित धनुष को, शोकग्रस्त मन से ।

❊ ❊ ❊

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।

जिसका शोक नहीं करना चाहिये, उसका शोक करता है और प्रज्ञावादियों जैसी बातें करता है । परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये, सत्-असत् का निर्णय करने में समर्थ पण्डित लोग शोक नहीं करते हैं ।

द्वितीय अध्याय

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

उस अर्जुन से, जो ऐसे करुणा से भरा हुआ था तथा अश्रु-पूरित व्याकुल नेत्रों वाला और विषादयुक्त था, यह वचन कहे भगवान मधुसूदन ने ।

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

क्यों तुम्हें यह लज्जास्पद गन्दी मानसिक व्यथा इस विषम स्थल में उत्पन्न हुई है ? यह अनार्योचित है, न स्वर्ग देने वाली है, और अपयश-कारिणी है। हे अर्जुन !

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

हे पाथ ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर खड़े हो जाओ ।

अर्जुन ने पहले अध्याय में जो कुल नाश के दोषों का वर्णन किया, तथा युद्ध के अनौचित्य के विषय में जो शंका प्रस्तुत की, वह पूर्णतया युक्तियुक्त है । प्रत्येक युद्ध के उपरान्त महिलायें पति, पिता, भाई और पुत्र के अभाव में असहाय हो जाती हैं, और इस कारण से उनके चरित्रहीन होने की संभावना हो जाती है । फलस्वरूप वर्णसंकर सन्तान की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार की सन्तान कुल-धर्म-रहित और परम्पराशून्य होती है, और पूर्वजों के प्रति अनादर का भाव रखती है । इस सारी विचारधारा को गन्दी और लज्जास्पद कह कर भगवान ने तिरस्कार किया। अर्जुन के विचार युक्तियुक्त होते हुए भी वास्तव में हीन हैं ।

प्रत्येक जाति के चरित्र का मूल तो जाति की संस्कृति होती है। कुल उस संस्कृति की रक्षा का एक माध्यम मात्र होता है। माध्यम की रक्षा के लिये मूल की अवहेलना नहीं की जा सकती।

इतिहास साक्षी है कि अकबर से डर कर अनेक सूरजवंशी, चन्द्रवंशी राजाओं ने सन्धि कर ली—फलस्वरूप बहन-बेटी का डोला देना पड़ा। आगरा के किले की ड्योढ़ियों में पहरा देना पड़ा। जिस दुर्दशा को जातियाँ युद्ध के उपरान्त प्राप्त होती हैं, वह दुर्दशा बिना लड़े ही हमारी हो गई।

इसके विपरीत चित्तौड़ और उदयपुर में जौहर और बलिदान का इतिहास बारम्बार लिखा गया। इस कारण न बहन-बेटी का डोला देना पड़ा, न ही वर्ण-संकर सन्तान के आगे सिर झुकाना पड़ा, न ही ड्योढ़ियों में पहरा देना पड़ा। मरने वाले अपनी कीर्ति अमर कर गये और अक्षय प्रेरणा के स्रोत के रूप में आज भी विद्यमान हैं। चरित्र की रक्षा, धर्म और संस्कृति के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादन द्वारा ही संभव है। यदि यह सिद्धान्त स्थायी रूप से विद्यमान रहें, तो युद्ध का प्रभाव कुछ काल के उपरान्त स्वतः ही समाप्त होजाता है। इस विचारधारा का भगवान द्वारा तिरस्कार होने पर अर्जुन ने अपने कुल के श्रेष्ठ और पूज्य व्यक्तियों की हत्या के औचित्य के विषय में शंका प्रस्तुत की।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

किस भाँति पितामह भीष्म से तथा द्रोणाचार्य से युद्ध में वाणों द्वारा युद्ध करूँगा, हे मधुसूदन ! वे दोनों पूजा करने योग्य हैं। हे अरिसूदन !

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

महानुभाव गुरुजनों को न मारकर, इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाना अच्छा है। मारकर, अर्थ की कामना वाले इन गुरुजनों को मैं इस लोक में उनके रक्त से भीगे हुए भोगों को ही भोगूँगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

हम यह नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है और न ही हम यह जानते हैं कि हम उन्हें जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे धृतराष्ट्र के पुत्र ही हमारे सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

संकुचित दृष्टिकोण के दोष से दबे हुए क्षात्र स्वभाव वाला मैं, धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ, आपसे पूछता हूँ कि जो श्रेष्ठ हो, वह आप मुझसे कहो। मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरण आये हुए मुझको शिक्षा दीजिये।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

क्योंकि भूमि में निष्कण्टक धन-धान्य संपन्न राज्य को और देवताओं के स्वामित्व को प्राप्त करके भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले इस शोक को दूर कर सके।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णींबभूवह ॥९॥

राजन्! हृषीकेश (इन्द्रियजयी) भगवान से ऐसा कहकर निद्राजयी अर्जुन फिर गोविन्द से यह कह कर चुप हो गये कि— "मैं युद्ध नहीं करूँगा!"

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भरतवंशी राजा धृतराष्ट्र! भगवान कृष्ण ने हँसते हुए से दोनों सेनाओं के बीच में उस विषादयुक्त अर्जुन से कहा यह वचन।

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

जिसका शोक नहीं करना चाहिये उसका शोक करता है, और बुद्धि-वादियों जैसी बातें करता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये; पण्डित लोग (सत-असत का निर्णय करने में समर्थ शास्त्रों के ज्ञाता) शोक नहीं करते हैं। (वे तो केवल जीवन के शाश्वत मूल्यों की ही चिन्ता करते हैं)।

गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवन-काल (सन् १४९७ - १६२३) हिन्दू जाति की पराजय का काल था। कनवाहा के भीषण युद्ध (सन् १५२७) में राणा सांगा पराजित हुए। चित्तौड़ का दूसरा जौहर सन् १५३४ में हुआ। पानीपत के दूसरे युद्ध में सन् १५५६ में हेमचन्द्र विक्रमादित्य का सिर काट कर फेंक दिया गया। सन् १५६५ में विजयनगर साम्राज्य का ध्वंस हुआ। सन् १५६७ में चितौड़ का तीसरा जौहर हुआ और भीषण नर-संहार हुआ। १५७६ में महाराणा प्रताप हल्दीघाटी के युद्ध में पराजित हुए। उन्होंने आजीवन स्वतंत्रता-संघर्ष को जीवित रखा। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र महाराणा अमरसिंह ने किसी प्रकार से अपना अस्तित्व बनाये रखा, पर अन्त में उन्हें भी जहाँगीर के आगे नतमस्तक होना पड़ा। इसी काल-खण्ड में गढ़ मण्डल की रानी दुर्गावती भी वीरगति को प्राप्त हुईं।

इस घोर निराशा की स्थिति में भी गोस्वामी तुलसीदास जी ने न तो किसी बलिदानी वीर की जीवन-गाथा लिखी, न ही किसी तत्कालीन नरेश की अकर्मण्यता पर क्षोभ व्यक्त किया। अर्थात् न जीवित व्यक्तियों की चिन्ता की, न उनकी जो इस संघर्ष में वीरगति को प्राप्त हुए। उन्होंने केवल—"राम ही शरीरधारी धर्म है"—यह मानकर उन्हीं का गुण-गान किया और रामभक्ति द्वारा नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन किया। कालान्तर में भक्ति शाश्वत हो गई और पराजय इतिहास हो गई। इतिहासकार विन्सेण्ट स्मिथ को लिखना पड़ा—"तुलसीदास का साम्राज्य आज भी कायम है, जबकि अकबर का साम्राज्य लुप्त होगया है!" गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन, गीता के उपरोक्त श्लोक को सार्थक अभिव्यक्ति है।

यह श्लोक भाष्यकारों द्वारा गीता का 'बीज-मंत्र' कहा जाता है। इसका स्पष्ट उद्घोष है कि भौतिक जीवन और मृत्यु गीता-चिन्तन का विषय नहीं है ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न तो ऐसा ही है—'मैं कभी नहीं था; नहीं था तू; नहीं थे ये राजा लोग; न और ऐसा ही है कि नहीं रहेंगे (भविष्य में) हम सब इसके पश्चात् ।

गीता का सबसे महत्वपूर्ण शब्द अहम् अर्थात् "मैं" है। इसी के द्वारा गीता में ईश्वर का बोध कराया गया है। ईश्वर के विषय में जितनी स्पष्ट धारणा गीता में है, उतनी अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं है। ईश्वर की गीता में स्पष्ट रूप से परिभाषा की गई है ।

अधियज्ञो अहमेवात्र देहे देहभृतांवर ।

अधियज्ञ हूँ मैं ही इस देह में, देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन। ८।४

अधियज्ञ अर्थात् 'सर्वोपरि यज्ञ' जो कि प्रत्येक प्राणी के शरीर में विद्यमान है, वह मैं अर्थात् ईश्वर हूँ। निश्चित रूप से घी, सामग्री और समिधा द्वारा संपादित यज्ञ सर्वोपरि यज्ञ नहीं है। द्रव्य यज्ञ, ज्ञान यज्ञ भी सर्वोपरि यज्ञ नहीं है। राजसूय और अश्वमेध यज्ञ भी सर्वोपरि यज्ञ नहीं हैं।

मनुष्य की सर्वोपरि सपत्ति उसका प्राण है और धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग ही सर्वोपरि यज्ञ है। जिस प्रकार हम इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सत्ता को स्वीकार करते हैं और इनसे श्रेष्ठ तत्व आत्मा की सत्ता भी प्राणीमात्र में प्रतिपादित करते हैं। उसी क्रम में गीता सब देहधारियों में अधियज्ञ अर्थात् धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग के भाव का उद्घोष करती है। भगवान इसी के साथ अपने को एकात्म करते हैं।

जिस प्रकार भगवान राम के विषय में रामायण में कहा गया है कि "रामौ विग्रहवान धर्म', उसी प्रकार "कृष्णो विग्रहवान अधियज्ञ"—यह भाव गीता-चिन्तन का आधार है। और यह अधियज्ञ धर्म हेतु—प्राणोत्सर्ग का भाव प्राणी मात्र में विद्यमान है। (देखिये भूमिका-ईश्वर)

उसी प्रकार अर्जुन को गीता में ईश्वरीय विभूति कहा गया है। अतएव उपरोक्त श्लोक के अनुसार धर्म-युद्ध एक सनातन तथ्य है, उसमें धर्म हेतु

प्राणोत्सर्ग का भाव, और ईश्वरीय विभूति जिनके प्रतीक महाभारत में श्रीकृष्ण तथा अर्जुन थे, प्रत्येक धर्म-युद्ध में सदैव विद्यमान रहते हैं और रहेंगे तथा धर्म के पक्ष और विपक्ष में लड़ने वाले यह राजा लोग भी सदैव रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

इस देहधारी को जैसे इस देह में कौमार्य, यौवन तथा जरा (प्राप्त होते हैं)। वैसे ही दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है, धीर पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होता।

यह शरीर परिवर्तनशील है। काल के प्रभाव से जैसे इसमें बालपन, यौवन और जरा आते हैं, वैसे ही जीवित अवस्था में ही विचारों के प्रभाव से उसको दूसरी देह प्राप्त हो जाती है। यह एक सर्वविदित तथ्य है। डाकू रत्नाकर का महाकवि वाल्मीकि होना, भोगवादी तुलसीदास का रामचरितमानस की रचना करना, नास्तिक नरेन्द्र का स्वामी विवेकानन्द होना स्पष्ट दिखने वाली दूसरी देह प्राप्त करने की निर्विवाद घटनाये हैं। प्रत्येक महापुरुष को सर्व साधारण जैसा ही शरीर जन्म से प्राप्त होता है। अपने कृत्यों द्वारा ही महान् बनता है तथा उसकी देह अन्य लोगों से भिन्न हो जाती है।

मरणोपरान्त दूसरी देह की प्राप्ति सदैव विवादास्पद रही है, और रहेगी।

बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने एक बार अपनी ब्रह्मवादिनी पत्नी मैत्रेयी से कहा—'हे मैत्रेयी, इस स्थान से निःसन्देह मैं ऊपर को जाने वाला हूँ, अतः मैं अनुमति चाहता हूँ और इस कात्यायिनी (महर्षि याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी) सहित अब तुम्हारे से सम्बन्ध का अन्त करना चाहता हूँ।"

मैत्रेयो ने उनसे उस समय किसी भौतिक पदार्थ अथवा सुख-सुविधा की कामना नहीं की, केवल आत्मज्ञान के प्रति जिज्ञासा प्रस्तुत की।

याज्ञवल्क्य अन्त में प्रतिपादित करते हैं—हे मैत्रेयी, यह आत्मा इन महाभूतों से ही उठकर इन्हीं में विनिष्ट हो जाता है, मरकर इसका ज्ञान व नाम नहीं रहता। ऐसा मैं याज्ञवल्क्य कहता हूँ।

मैत्रेयी ने फिर पूछा—"मरकर प्रथक संज्ञा" नहीं रहती, यहाँ ही श्रीमान् ने मुझे मोहित किया है।"

याज्ञवल्क्य बोले—"अरे मैत्रेयी, मैं मोहवश नहीं कहता हूँ।" विज्ञान के लिये यही पर्याप्त है।

उपरोक्त स्पष्ट घोषणा के उपरान्त किसी भी व्यक्ति विशेष के मृत्योपरांत पुनर्जन्म का प्रश्न विवादास्पद हो जाता है।

दूसरे, गीता के अनुसार यह सारा जगत प्राण रूपा परा प्रकृति से धारण किया जाता है।

(जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् । ७.५)

जो प्राण सारे जगत को धारण करने में समर्थ है, वही प्राण देह धारण करने के कारण देहधारी कहा गया है, इसी परा प्रकृति और प्राण को ही सब उपनिषद, महर्षि याज्ञवल्क्य, महर्षि कौबीतकी तथा जगद्गुरु आदि शंकराचार्य भी ब्रह्म प्रतिपादित करते हैं आज तक किसी ग्रन्थ ने तथा किसी आचार्य ने ब्रह्म का पुनर्जन्म नहीं प्रतिपादित किया है।

अतएव बालपन, यौवन, जरा की भाँति दूसरी देह भी जीवित अवस्था में ही प्राप्त हो जाती है। देह की परिवर्तनशीलता का तथा असीम क्षमता का इसमें सजीव वर्णन कहीं नहीं हुआ है, तथा मरणोपरान्त पुनर्जन्म के विषय में "धीरस्तत्र न मुस्यति" (धीर पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होता)—उक्ति सार्थक नहीं होती है।

इतना निश्चित होने पर कि—(१) भौतिक जीवन और भौतिक मृत्यु गीता की दृष्टि में गौण है, (२) धर्म-युद्ध शाश्वत है, (३) क्षरणशील देह में देहधारी द्वारा शरीर परिवर्तन करने की असीम क्षमता है। भगवान इसी क्षमता के विकास का मार्ग प्रशस्त करते हुए कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।१४॥

भौतिक पदार्थों के साथ इन्द्रियों के स्पर्श तो कौन्तेय, सरदी-गरमी और सुख-दुःख देने वाले हैं, आने-जाने वाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशी, इनको बिना व्याकुलता के सहन कर।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

क्योंकि नहीं व्यथित करते यह; (जिस पुरुष को) ऐसा सुख-दुःख को समान समझने वाला वह धीर पुरुष अमृतत्व पाने के योग्य होता है, हे पुरुष-श्रेष्ठ अर्जुन।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् का भाव नहीं है और सत् का अभाव नहीं है । इन दोनों का तो अन्त भी तत्वज्ञानी पुरुषों ने देखा है ।

सत् और असत् भारतीय चिन्तन के महत्वपूर्ण शब्द हैं । सत् का अर्थ ब्रह्म अथवा प्राण है और असत् नाशवान् पदार्थों का द्योतक है । भाष्यकार यहाँ भाव शब्द का अर्थ 'अस्तित्व' प्रतिपादित करते हैं, जो कि कोश समर्थित भी है । किन्तु इस अर्थ को ग्रहण करने से अनेक दुविधायें उत्पन्न होती हैं । सर्व प्रथम तैत्तरीयोपनिषद ब्रह्म वल्ली सप्तम अनुवाक में स्पष्ट उल्लेख है – "असद्वा इदम् अग्र आसीत । ततो वै सदजायत"

आरम्भ में यहां पहले असत ही था, उससे ही यह सत् (प्राण) उत्पन्न हुआ है । यह एक वैज्ञानिक सत्य भी है । इस प्रकार असत् पंच महाभूत आदि (जिसमें से सत् उत्पन्न हुआ) का अस्तित्व ही नहीं, यह भाव श्रुति विपरीत है तथा विसंगति उत्पन्न करता है और इसका अन्त भी तत्वदर्शियों ने देखा है । बृहदारण्यक उपनिषद इस विषय में स्पष्ट उल्लेख करता है—"नैवेह किंचनाग्र आसीत् '– आरम्भ में यहां कुछ भी नहीं था, अर्थात् न सत् न असत् ।

इसके विपरीत उल्लेख भी अन्य उपनिषदों में मिलते हैं ।

इस दुविधापूर्ण स्थिति में भाव शब्द का अर्थ अस्तित्व ग्रहण करना संशयास्पद है । इसलिये भाव का दूसरा अर्थ अर्थात् चित्तवृत्ति ग्रहण करने से यह दुविधा पूर्ण स्थिति सहज ही समाप्त हो जाती है, तथा गीता में भी जहाँ ईश्वर भाव मद्भाव, सात्विक राजसी तामसी भाव का वर्णन है वहाँ भी भाव शब्द का अर्थ अस्तित्व नहीं प्रतिपादित किया गया है । असत् का भाव (चित्रवृत्ति अथवा प्रेरणा) नहीं है । और सत् का अभाव (चित्तवृत्ति शून्यता– प्रेरणा हीनता) नहीं है । इन दोनों का अन्त भी तत्वज्ञानी पुरुषों ने देखा है (अर्थात् आरम्भ में न सत् था, न असत्) ।

यदि तैत्तरीय उपनिषद ब्रह्म वल्ली १ पर विचार करें तो "आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न, अन्न से रेतम्, और रेतम् से पुरुष । इस प्रकार यह पुरुष-शरीर अन्न-रस मय है ।"

इस चिन्तन के अनुसार जब सृष्टि रचना आत्मा द्वारा ही हुई तो भी जो रचना एक बार बन गई, उसके अस्तित्व को निरस्त नहीं किया जा सकता। सत्-असत् की उपरोक्त विविध धारणाओं के विपरीत गीता इनका निश्चयात्मक समन्वयात्मक रूप १७ वें अध्याय में प्रस्तुत करती है।

१७/२३ "ओम् तत् सत्" यह ऐसा निर्देश ब्रह्म का तीन प्रकार का कहा गया है। इसी से ब्राह्मण (ग्रन्थ) वेद और यज्ञ रचे गये पूर्व में।

२४. अतः ओम् ऐसा कह कर यज्ञ-दान और तप क्रिया विधानोक्त हुआ करती है, सदैव ब्रह्म वादियों की।

२५. "तत्" इस भाव से न चाहकर फल को, यज्ञ तप क्रिया, दान क्रिया और विविध प्रकार की, की जाती है, मुक्ति की इच्छा करने वालों द्वारा।

२६. सद्भाव से और साधुभाव से इस सत् का प्रयोग किया जाता है। उत्तम कर्म में भी पार्थ सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है।

२७. यज्ञ, दान, तप की स्थिति भी सत् कही जाती है। उनके लिये और जो कर्म किये जाते हैं वे भी सत् हैं, ऐसा कहा जाता है।

२८. अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया हुआ दान तथा हुआ तप तथा किया हुआ कर्म 'असत्' ऐसा कहा जाता है। पार्थ वह है न मरने पर न यहाँ।

अतएव गीता के अनुसार जो श्रद्धा युक्त है, वह सत् है—जो श्रद्धा हीन है, वह 'असत्' है। इसके साथ ही अस्तित्व की कसौटी श्रद्धा ही है। श्रद्धा है तो अस्तित्व है, श्रद्धा नहीं है तो अस्तित्व ही नहीं है। यह सत् और असत् के विषय में गीता का अन्तिम निर्णय है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

नाश रहित तो उसको (ब्रह्म को अर्थात् प्राण को) जान जिससे सारा यह संसार व्याप्त है। विनाश इस अविनाशी का नहीं कोई भी करने में समर्थ है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

नाशवान यह शरीर कहे गये हैं, उस शरीरधारी अथवा देहधारी

(प्राण) के जो नित्य रहने वाला अचिन्त्य और अविनाशी है। इसलिये युद्ध कर, हे भरतवंशी अर्जुन !

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।१९।।

जो इस देहधारी (प्राण) को समझता है मारने वाला, और जो इसको मानता है मरा हुआ, दोनों ही वे नहीं जानते, न यह मारता है न यह मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२०।।

न जन्मता है (न) मरता है, और कभी न यह उत्पन्न होकर यह होने वाला है, अथवा न फिर यह अजन्मा, नित्य शाश्वत, पुरातन, नहीं नाश होता नाश होने पर शरीर के।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

जानता है जो नित्य अविनाशी इसको, अजन्मा तथा अव्यय कैसे वह पुरुष है पार्थ, किसी को मरवाता है ? मारता है किसको ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२२।।

पुराने वस्त्रों को छोड़कर जैसे नर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार देहधारी पुराने शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है।

तेरहवें श्लोक में जो देहान्तर प्राप्ति की बात कही गई है, उसको और स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं, जिस प्रकार जीवित व्यक्ति वस्त्र परिवर्तन करता है , उसी प्रकार जीवित अवस्था में ही मनुष्य दूसरी देह प्राप्त करता है। "देहान्तर प्राप्ति" द्वारा किसी मरणोपरान्त जीवन की शंका न उठे, अथवा "पर काया प्रवेश" जैसी किसी यौगिक क्रिया

का भ्रम उत्पन्न न हो जाय, इसका निराकरण करने के लिये यह श्लोक है। यदि मरणोपरान्त देह परिवर्तन प्रतिपादित करना अभीष्ट होता तो पाठ यह होता 'तथा शरीराणि विहाय प्रेताः न्यन्यानि संपति नवानि देही।' जीर्ण और प्रेत दो भिन्न शब्द हैं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

नहीं इसको शस्त्र काट सकते। नहीं आग जला सकती। नहीं और इसको जल गला सकता (और) नहीं वायु इसको सुखा सकता।

उपरोक्त भाव कठोपनिषद के दूसरे अध्याय की तृतीय वल्ली में अत्यन्त प्रभावी ढंग से स्पष्ट किये गये हैं।

□ **यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।**
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

यह जो सारा जगत है प्राण-ब्रह्म में उदित होकर उसीसे चेष्टाकर रहा है। यह ब्रह्म महान भय रूप और उठे हुए वज्र के समान है। जो उसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

□ **भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।**
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३॥

इसके भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है तथा इसी के भय से इन्द्र वायु और पांचवाँ मृत्यु दौड़ता है।

(कठोपनिषद्—शंकर भाष्य)

स्पष्ट है कि जो देहधारी अर्थात् प्राण-ब्रह्म है जिसमें सारा जगत उदित होकर उसी से चेष्टा कर रहा है तथा अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु जिसके भय से कार्यरत हैं, वह कैसे काटा, जलाया, सुखाया और मारा जा सकता है।

इस श्लोक द्वारा भी देहधारी प्राण ही प्रतिपादित होता है, जीवात्मा नहीं।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

छिदने वाला नहीं, यह जलने वाला नहीं, यह गलने वाला नहीं, सूखने वाला नहीं, निःसन्देह और नित्य सर्व व्यापक स्थिर अचल यह सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अव्यक्त यह, अचिन्त्य यह, और अधिकारी यह, कहा जाता है। इसलिये ऐसा जानकर इसको, शोक करना उचित नहीं ।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

यदि और इसे नित्य जन्मने वाला, नित्य और मानते हो मरने वाला, तुम, तो भी महाबाहो नहीं इस प्रकार शोक करना उचित है ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जन्मने वाले की क्योंकि निश्चित है मृत्यु, निश्चित है जन्म मरने वाले का, और इसलिये भी इस अटल विषय में नहीं तुम्हें शोक करना उचित है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

जन्म से पहले अव्यक्त (नहीं दिखते) हैं समस्त प्राणी, बीच में व्यक्त - दिखते हैं; हे भरतवंशी अर्जुन ! मरने के बाद अव्यक्त (नहीं - दिखने वाले) हैं ही, इस विषय में क्यों चिन्ता करना ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

(इस प्राण को) कोई आश्चर्य की तरह देखता है इसको, और वैसे ही और दूसरा आश्चर्य की भांति कहता है, और कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है, सुन कर भी कोई उसे जान पाता ही नहीं ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

देहधारी नित्य ही अवध्य है यह; शरीर में सबके इसलिये हे भारत ! समस्त प्राणियों का नहीं तुम्हें शोक करना उचित है।

श्लोक २४-३० तक तथा इसके पहले भी जिस देहधारी का वर्णन किया गया है वह देह को धारण करने वाला प्राण ही है, जो प्राण अर्थात् परा प्रकृति समस्त जगत को धारण करती है वह देह को धारण करने में समर्थ है (जीव भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्) इसको भाष्यकारों द्वारा भ्रम पूर्वक आत्मा कहा गया है, किन्तु गीता का देहधारी आत्मा से सर्वथा भिन्न है। इस देहधारी को ही ब्रह्म कहा गया है। इसी प्राण का स्वभाव, आत्मा पर आधारित अध्यात्म कहा गया है। (अध्याय ८।३) गीता में केवल ब्रह्म को ही अविनाशी माना गया है।

"अक्षरं ब्रह्म परमम्"

तथा अव्यक्त, अनिर्देश्य, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव आदि विशेषण इसी ब्रह्म के लिये १२ वें अध्याय में प्रयुक्त हुए हैं। जो वर्णन देहधारी का यहाँ किया गया है वैसा ही ब्रह्म अर्थात् प्राण का वर्णन १२ वें अध्याय में हुआ है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवं ॥१२।३॥

आत्मा के विषय में गीता की धारणा इससे सर्वथा भिन्न है।

- १६ वें अध्याय में आसुरी सम्पत्ति संपन्न व्यक्तियों को "नष्टात्म" कहा गया है। काम, लालच और क्रोध द्वारा आत्मा का नाश होता है। इसलिये यद्यपि पुरुष जीवित रहता है पर प्राण का स्वभाव जो आत्मा पर आधारित अध्यात्म कहा गया है, वह समाप्त हो जाता है। इसलिये आत्मा, अविनाशी प्राण का स्वभाव होते हुए भी अविनाशी नहीं है।

- देहधारी को अविकारी अथवा कूटस्थ कहा गया है, आत्मा के विषय में अशुद्धात्मा, असंयत आत्मा, संशयात्मा आदि शब्द प्रयोग हुआ है। इस प्रकार आत्मा ब्रह्म से भिन्न प्रतिपादित होता है।

- ब्रह्म अचिन्त्य माना गया है जबकि छठे अध्याय में योगाचार द्वारा आत्म शोधन का विधान किया गया है।

(उपविश्य् आसने युन्जयात् योगम् आत्म विशुद्धये - ६ - १२)

इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म का भेद स्पष्ट होने से गीता को समझना क्रमशः सरल होता जाता है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

अपने धर्म को भी फिर देखकर नहीं डगमगाना उचित है। धर्म, क्योंकि युद्ध से श्रेष्ठ, दूसरा कोई, क्षत्रिय के लिये नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।

हे अर्जुन, अपने आप ही प्राप्त, खुले हुए स्वर्ग के द्वार, इस प्रकार के युद्ध को सुखी क्षत्रिय ही पाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।३३।।

यदि तुम इस धर्म युद्ध को न करोगे तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त करोगे।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।३४।।

न मिटने वाली अपकीर्ति, को और भी सब लोग कथन करेंगे तेरी। माननीय पुरुष के लिये और अपकीर्ति मरने से भी अधिक होती है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

भय के कारण युद्ध से भागा हुआ मानेंगे, तुझे वे महारथी लोग, जिनका और तू बहुत माननीय होकर भी प्राप्त होगा तुच्छता को।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।३६।।

न कहने योग्य बातें और बहुत-सी कहेंगे तेरी, बैरी लोग; निन्दा करते हुए तेरे सामर्थ्य की, उससे अधिक दुःख तब क्या होगा।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।

मारे गये यदि तो मिलेगा स्वर्ग, अथवा जीतने पर राज्य भोगोगे पृथ्वी का, इसलिये खड़े हो जाओ हे कौन्तेय, युद्ध के लिये निश्चय करके-

("कायरता और पराधीनता के वातावरण में मर जाना नरकभोग है और कर्म के पथ पर वीर, साहसी और स्वावलम्बी रहकर देह को त्याग देना स्वर्ग प्राप्ति है।" —स्व० दीनानाथ भार्गव दिनेश)

सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख दुःख समान करके, लाभ हानि, जय पराजय, फिर युद्ध के लिये तैयार होजा, नहीं ऐसे पाप लगेगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

यह तुमसे कहा गया है सांख्य का ज्ञान, अब वह बुद्धि योग सुनो जिससे युक्त होकर तुम कर्म बन्धन त्याग सकोगे।

उपरोक्त श्लोक में सांख्य और योग दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। श्री राधाकृष्णन् और श्री जयदयाल गोयन्दका इस विषय पर एक मत हैं कि गीता का सांख्य कपिल सांख्य नहीं और गीता का योग पातंजल योग नहीं। वैचारिक सामंजस्य अथवा मतभेद पर विचार करने से पहले यदि ऐतिहासिक मान्यताओं पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि कपिल सांख्य (जैसा कि आज उपलब्ध है), की रचना गीता के ८०० वर्ष पश्चात् हुई। कपिल सांख्य में पाटलिपुत्र नगर का स्पष्ट उल्लेख है। (सुध्नस्थ पाटलिपुत्र स्थयोरिव ।१।२८) पाटलिपुत्र का निर्माण गौतमबुद्ध के काल में महाराज अजातशत्रु ने लिच्छवियों के नाश हेतु किया तथा श्री गौतमबुद्ध द्वारा इसका उद्घाटन हुआ। यह एक सर्वविदित तथ्य है। इस प्रकार जिस ग्रन्थ में पाटलिपुत्र का उल्लेख है, निश्चित ही वह ग्रन्थ गीता के कई शताब्दि उपरान्त लिखा गया, तथा वह गीता चिन्तन को प्रभावित नहीं कर सकता है।

गीता के सांख्य श्लोक ११ से ३८ तक स्पष्ट रूप से वर्णित हैं, इनके अनुसार (१) भौतिक जीवन और मृत्यु कोई चिन्ता का विषय नहीं। (२) धर्मयुद्ध एक शाश्वत सत्य है। (३) देह को धारण करने वाला प्राण अविनाशी है। (४) यद्यपि यह शरीर प्रत्येक क्षण क्षरण की ओर अग्रसर हो रहा है, किन्तु देहधारी में जीवन काल में ही दूसरी देह प्राप्त करने की क्षमता है।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।४३।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।४४।।

(३) जिनकी कामना ही जिनकी आत्मा है। (४) स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वालों की। (५) जन्म-कर्म-फल दायनी। (६) भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत-सी क्रियाओं के विस्तार वाली वाणी। (७) भोग तथा ऐश्वर्य में आसक्त रहने वालों की तथा उससे मोहित हुए चित्त वालों की निश्चयात्मक बुद्धि समाधि में नहीं लगती।

(४) जो इस लोक में श्रम न कर स्वर्ग प्राप्ति की ही थोथी बातें करते हैं। (५) जो कुल विशेष में जन्म लेने से बिना प्रयास ही कर्म जन्य सिद्धि की प्राप्ति की बात करते हैं, ऐसे लोगों की बुद्धि समाधि में अर्थात् एकाग्रता में स्थित नहीं होती है। "जन्म कर्म फल प्रदाम" की व्याख्या करते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—

"नवीन देह और इन्द्रिय आदि से सम्वन्ध होना रूप जन्म, उसके आश्रित वर्णाश्रमादि के अभिमानवश होने वाला कर्म और उसके आधीन पुत्र, पशु एवम् स्वर्गादि रूप नाशवाला फल - इस जन्म कर्म फलों को जो प्रकर्ष से अर्थात् घंटी यन्त्र के समान निरन्तर देती रहती है वह वाणी"। (६) जो बिना समुचित प्रयास के भिन्न-भिन्न क्रियाओं द्वारा भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति की इच्छा करते हैं। (७) तथा जो विलासी लोग भोग ऐश्वर्य में लिप्त हो उसे ही श्रेष्ठ मानते हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।४५।।

तीन गुणों के विषय वाले हैं वेद, तीन गुणों से रहित हो अर्जुन, निर्द्वन्द, नित्य शुद्ध सामर्थ्य में स्थित, योग क्षेम से रहित, (पदार्थों की प्राप्ति और उन्हें सुरक्षित रखने की चिंता से रहित) आत्मवान हो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।४६।।

जितना प्रयोजन कुँए से चारों ओर से भरा हुआ जलाशय प्राप्त होने पर रहता है, उतना ही (प्रयोजन) सम्पूर्ण वेदों से रहता है ज्ञानी ब्राह्मण का।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

कर्म करने में ही अधिकार है तेरा, नहीं फल में कभी, न कर्मफल की वासना वाला हो, (कर्मों के फलों को कर्मों का उद्देश्य न बना -अरविन्द घोष) न तेरी आसक्ति ही अकर्म में ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।४८।।

योग में स्थित हुआ कर कर्मों को, फल की आसक्ति को छोड़कर, हे धनंजय, सिद्धि और असिद्धि में समान रह कर, समता को ही योग कहते हैं ।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।४९।।

अत्यन्त क्योंकि निम्न कोटि का है कर्म इस समत्व बुद्धि योग से, हे धनंजय, इस बुद्धि योग का आश्रय ग्रहणकर, फल की वासना वाले कृपण होते हैं । इस प्रकार के समत्व बुद्धि से युक्त, कर्म बन्धन से मुक्त. व्यक्ति के लिये आगे गीता मार्ग प्रशस्त करती है ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

समत्व बुद्धि युक्त यहाँ छोड़ देता है दोनों को, पाप को और पुण्य को, इसलिये समत्व बुद्धि के लिये प्रयत्नशील रहो । योग है कर्म करने में कुशलता ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।

जो बुद्धि युक्त मनीषी हैं.वे कर्म जन्य फल को त्याग कर जन्म बन्धन से मुक्त होकर रोग रहित (दोष रहित) पद को प्राप्त होते हैं । (जन्म बन्धन से मुक्ति, अर्थात् समाज में जन्म लेने के कारण मनुष्य के जो कर्त्तव्य हैं उन्हें पूरा करना ।)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल से पार हो जायगी तब प्राप्त होगा वैराग्य सुने हुए और सुने जा सकने वाले विषयों से ।

वैराग्य जीवन की सब समस्याओं पर निष्पक्ष रूप से विचार करने की स्थिति है। सुनी सुनाई बातों पर आधारित दृष्टिकोण किसी भी समस्या को पूर्णतया समझने में असमर्थ होता है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

वेदवाद को सुनने से अस्थिर हुई तेरी बुद्धि जब स्थिर हो जायगी निश्चल समाधि में दृढ़, तब यह योग तुझे प्राप्त होगा।

उपरोक्त उपलब्धियाँ कर्म बन्धन से मुक्ति, जन्म बन्धन से मुक्ति, और अन्त में वैराग्य और स्थिरप्रज्ञता अर्जुन को केवल दार्शनिक कल्पना मात्र प्रतीत हुई। अतएव उसने प्रश्न किया।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

स्थितप्रज्ञ की क्या परिभाषा है ? समाधि में स्थित हे केशव ! स्थितप्रज्ञ किस प्रकार बोलता है, कैसे बैठता है, चलता है कैसे ?

श्री भगवान उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थमनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

छोड़ देता है मन:स्थित सब कामनाओं को, आत्मा में ही आत्मा से तुष्ट होता है स्थितप्रज्ञ तब कहा जाता है ।

गीता के अनुसार आत्मा (१) इन्द्रिय, मन, बुद्धि से श्रेष्ठ तत्व है। (२) जीवन संघर्ष में पूर्णतया अकर्ता है। (३) तथा प्राण का स्वभाव इसी पर आधारित, अध्यात्म कहा जाता है। इस प्रकार आत्मा में आत्मा से तुष्ट अर्थात् अध्यात्म धारणा में पूर्णतया स्थित व्यक्ति स्थिरप्रज्ञ कहा जाता है ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

दु:खों में मन उद्वेग रहित, सुखों में स्पृहा रहित, जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं। स्थिर बुद्धि वह मुनि कहा जाता है। (दु:ख में चित्त की उद्विग्नता दु:ख को बढ़ाती है तथा सुख में ईर्ष्या अथवा इच्छा सुख को घटाती है)।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५७।।

जो व्यक्ति सर्वत्र स्नेह रहित है, जो-जो प्राप्त होते हैं शुभ एवम् अशुभ, न (उनमें) प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है। उसकी प्रतिभा प्रतिष्ठित होती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

जब पुरुष सब ओर से इन्द्रियों को, इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को, तब उसकी प्रतिभा प्रतिष्ठित होती है।

कछुए की पीठ बड़ी दृढ़ होती है। उसमें आघात सहने की क्षमता असीम होती है, किन्तु उसके हाथ-पाँव कोमल होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य में सुख-दु:ख सहने की सामर्थ्य भी असीम है, पर इन्द्रियों के वशीभूत हो वह निर्बल हो जाता है। अतएव स्थिर बुद्धि पुरुष अपनी इन्द्रियों को अमर्यादित होने से रोकता है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।

विषय छूट जाते हैं निराहारी पुरुष के, रस नहीं छूटता, किन्तु रस भी उसका ब्रह्म का साक्षात करके छूट जाता है।

स्थिरप्रज्ञ के लक्षणों का वर्णन करने के उपरान्त भगवान कहते हैं कि आहार त्याग अथवा आहार विहार के कठोर नियमन से विषय दूर हो जाते हैं, किन्तु उनकी लालसा बनी रहती है, अतएव 'परम' अर्थात् ब्रह्म अर्थात् मायातीत 'प्राण' का जीवन में साक्षात्कार होने पर विषयों की लालसा से भी व्यक्ति निवृत्त हो जाता है। सुख-दु:ख सहते हुए, संसार का

उतार-चढ़ाव देखते हुए मनुष्य की विषयों के प्रति लालसा स्वतः ही समाप्त हो जाती है। ऐसा अनुभवसिद्ध पुरुष ही स्पष्ट रूप से कहता है—

'एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

क्योंकि हे कौन्तेय ! यत्न में लगे हुए बुद्धिमान मनुष्य के मन को भी बलशाली इन्द्रियाँ बलात् हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

उन सब इन्द्रियों का संयम करके योगयुक्त हुआ मेरे परायण होकर धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग (अधियज्ञ के लिये सर्मपित) पुरुष की जब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, तब उसकी प्रतिभा प्रतिष्ठित हो पाती है। (यदि विषयों के रस से निवृत्ति न हुई तो)।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयों का चिन्तन करने वाले की आसक्ति उन विषयों में हो जाती है, आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है। कामना से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोध से होता है अविवेक, अविवेक से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रम से बुद्धिनाश, बुद्धि के नाश होने से उस पुरुष का नाश हो जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

राग और द्वेष से छूटी हुई; आत्मा के आधीन इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ भी, आत्मा को वश में कर लेने वाला प्रसन्नता प्राप्त करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

प्रसन्नता प्राप्त होने पर सब दुःखों का नाश, इस पुरुष के हो जाता है। प्रसन्न चित्तवाले की निस्सन्देह बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

नहीं होती बुद्धि अयुक्त व्यक्ति में, नहीं होती और अयुक्त में भावना, नहीं होती और भावना रहित को शान्ति ; अशान्त को कहाँ सुख ?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

इन्द्रियों में क्योंकि विचरने वाला मन जिसके साथ रहता है वह उसकी हर लेती है प्रतिभा, जैसे वायु नाव को जल में।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।।

इसलिये जिसकी हे महाबाहो ! वश में की हुई होती है सब ओर से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषयों से, उसकी प्रतिभा प्रतिष्ठित होती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९।।

जो रात्रि है सब प्राणियों के लिये उसमें जागता है संयमी, जिसमें जागते हैं सब प्राणी वह रात्रि है देखने वाले मुनि के लिये।

भगवान जीवन के प्रति ज्ञानी और साधारण व्यक्ति के दृष्टिकोण में भेद बतलाते हैं। संसारी व्यक्ति इतने मात्र से ही संतुष्ट रहता है कि सेव का फल वृक्ष से गिरता है और खाने में अच्छा लगता है, पर ज्ञानी सर आइजक न्यूटन के लिये सेव का गिरना गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। जो साधारण व्यक्ति के लिये ज्ञान अथवा दिन था, वही न्यूटन के लिये अज्ञान अथवा रात थी। जो न्यूटन के लिये दिन अथवा ज्ञान था, वही साधारण व्यक्तियों के लिये रात थी।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।७०।।

सब ओर से भरे हुए अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में नदियों के जल समा जाते हैं जैसे, वैसे ही सब भोग समा जाते हैं जिस व्यक्ति में, वह शान्ति पाता है, नहीं पाता वह शान्ति, भोगों को चाहने वाला।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।

त्याग कर कामनाओं को जो सम्पूर्ण, पुरुष विचरता है। इच्छा रहित, ममता रहित, अहंकार रहित, वह शान्ति पाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।७२।।

यह ब्राह्मी स्थिति (ब्रह्म की मायातीत स्थिति. 'अव्याकृत' प्राण की स्थिति है)। पार्थ ! नहीं इसको पाकर जो मोहित होता स्थित होकर इसमें ; अन्तकाल (जीवन के विषय में अन्तिम निर्णय करने का क्षण) में भी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है।

* * *

एवम् बुद्धेः परंबुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपम् दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धि से परे जान कर, वश में करके आत्मा को आत्मा से, मार दो काम रूप दुर्जय शत्रु को ।

तृतीय अध्याय

अर्जुन द्वारा शस्त्र त्याग कर, पूर्णतया युद्ध से विमुख होने का निश्चय व्यक्त करने पर, भगवान ने सांख्यज्ञान का उपदेश दिया। इसके उपरान्त व्यवसायात्मिका बुद्धि की शरण लेकर कर्म करने की प्रेरणा दी। फिर यह प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार कर्म विकसित होता है, उसके समानान्तर ही बुद्धि का भी क्रमशः विकास स्वतः ही होता जाता है। कर्म द्वारा कर्म-बन्धन से मुक्ति, कर्म-फल-त्याग, कर्म-कौशल, जन्म-बन्धन से मुक्ति, आदि उपलब्धियाँ होती हैं। इसके साथ ही व्यवसायात्मिक बुद्धि, समत्व बुद्धि, वैराग्य का मार्ग ग्रहण करती हुई स्थिर प्रज्ञता की ओर अग्रसर होकर ब्राह्मी स्थिति को धारण करती है।

भगवान द्वारा स्थिर प्रज्ञ के लक्षण तथा ब्राह्मी स्थिति का वर्णन सुन कर अर्जुन के मन में फिर विचार उठा कि यदि कर्म द्वारा ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करना ही कर्म का लक्ष्य है तो वह स्थिति कर्म त्याग द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है। अनेक संन्यासियों ने यह मार्ग अपनाया है। अतः अर्जुन ने प्रश्न प्रस्तुत किया।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

श्रेष्ठ यदि कर्म से मान्य है आपको बुद्धि हे जनार्दन, तो फिर क्यों भयंकर कर्म में मुझे प्रवृत्त करते हो, हे केशव ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अस्पष्ट मिले-जुले वाक्य से आप मेरी बुद्धि को भ्रमित-सी करते हैं। उस एक को कहो निश्चित करके जिससे मैं उत्कृष्टतम् (स्थिति) को प्राप्त होऊँ।

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

इस लोक में दो प्रकार की स्थिति मेरे द्वारा पहले कही गई है, हे निष्पाप अर्जुन! ज्ञान योग से सांख्यवादियों की, तथा कर्म योग द्वारा योगियों की।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

न तो कर्मों को आरम्भ न करने से व्यक्ति निष्कर्मता (कर्म-फल-त्याग की स्थिति) को प्राप्त होता है, न और कर्मों को छोड़ देने से ही सिद्धि को प्राप्त होता है। कर्म-फल-त्याग और कर्मजन्य सिद्धि कर्म की ही उपलब्धियाँ हैं। यदि कर्म ही न किया जाये तो इन उपलब्धियों को प्राप्त करना ही असंभव है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

नहीं क्योंकि, कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी कभी रहता है अकर्म के। निस्सन्देह सभी प्राणी प्रकृति से उत्पन्न गुणों से, विवश हुए कर्म करते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारःस उच्यते ।।६।।

कर्मेन्द्रियों को संयत कर, जो रहता है मन से चिन्तन करता, इन्द्रियों के भोगों का, ऐसा भ्रमित आत्मा वाला व्यक्ति, मिथ्याचारी कहा जाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।७।।

जो और मन से इन्द्रियों को नियम में करके, आचरण करता है कर्मेन्द्रियों से, कर्म योग का, अनासक्त होकर, वह विशिष्ट है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।८।।

इसलिये नियत कर्म करो अर्जुन, कर्म श्रेष्ठ है, अकर्म से। शरीर यात्रा भी और तुम्हारी ख्यातिमयी न होगी, अकर्म से।

गीता के अनुसार प्रेरणादायक त्याग (४३) कर्म कहा जाता है। इसी प्रकार के कर्म से जीवन यात्रा ख्यातिमयी होती है। साधारण कर्म जिन्हें गीता 'अकर्म' कहती है, उनसे जीवन यात्रा ख्यातिमयी नहीं होती है। अकर्म से केवल जीवन यापन संभव होता है। गीता के अनुसार कर्म मूल

रूप से त्याग है। प्रेरणादायक त्याग, 'कर्म', तथा प्रेरणाहीन त्याग 'अकर्म' सामान्य जन साधारण, अकर्म में स्थित रहता है। मूल रूप से त्याग होने के कारण गीता अकर्म को कर्म के समतुल्य ही मानती है। (४।१८)। गीता का अकर्म समाज का आधार है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।९।।

यज्ञ के लिये (बलिदान भाव से) किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त; दूसरे कर्मों से यह लोक कर्म बन्धन युक्त हो जाता है। यज्ञ के लिये कर्म, हे अर्जुन, आसक्ति रहित होकर करो।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टवा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।१०।।

यज्ञ सहित प्रजाओं की सृष्टि करके, आदि में प्रजापति ने कहा कि इस यज्ञ द्वारा (तुम) वृद्धि पाओ यह यज्ञ तुम्हारी कामनाओं को पूरी करने वाली कामधेनु हो।

विधाता ने प्रत्येक प्राणी के जन्म के साथ कोई न कोई (यज्ञ पर आधारित) लोक कल्याणकारी कर्म नियत किया है। कीड़े, मकोड़े, गाय, भैंस, यहाँ तक कि सांप की भी कुछ न कुछ उपयोगिता सृष्टि-क्रम में है। यही उनका यज्ञ है, इसी के सहारे वे वृद्धि को प्राप्त हो अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, किन्तु मनुष्य में यज्ञ का भाव अधिक विकसित होता है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।११।।

देवताओं की भावना करो इस (प्रजापति प्रदत्त) यज्ञ से, वे देवता भावना करें तुम्हारी। एक-दूसरे का कल्याण करते हुए तुम उत्कृष्टतम् स्थिति को प्राप्त होवोगे।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।१२।।

इष्ट भोगों को निःसन्देह तुम्हें देवता देंगे (जो) यज्ञ द्वारा भावित हुए हैं, उनके दिये हुए को उन्हें बिना दिये जो भोगता है वह चोर है, निश्चय ही।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।१३।।

यज्ञ से बंचे हुए भाग को खाने वाले सन्तगण सब पापों से छूटते हैं। जो पापी जन अपने लिये ही पकाते हैं, वे तो पाप को खाते हैं।

उपरोक्त श्लोकों का भाव ग्रहण करने के लिये आवश्यक है कि इन श्लोकों में प्रयुक्त देव और यज्ञ शब्द पर गीता के अनुसार ही विचार किया जाये ।

भारतवर्ष में एक प्रचलित मान्यता है कि यज्ञ करने से इन्द्रादि देवता प्रसन्न होते हैं । हवन-कुण्ड में जो आहुतियाँ डाली जाती हैं उनसे देवताओं का पोषण-वर्धन होता है, और वे देवता उपयुक्त समय पर उचित वर्षा द्वारा हमारा पोषण करते हैं। यह धारणा भारतीय जन मानस पर पूर्णतया अंकित है और इसी धारणा के अनुसार इन श्लोकों का अर्थ किया गया है।

किन्तु गीता के उपरोक्त श्लोकों का भाव इस प्रचलित मान्यता से नितान्त भिन्न है । गीता का १६वां अध्याय "दैवासुर सम्पद विभाग योग" कहा जाता है । इसके अनुसार इस लोक में प्राणियों की सृष्टि दो प्रकार की है, दैवी और आसुरी (द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन दैव आसुर एव च । १६।६) इसी अध्याय में दैवी सम्पदा संपन्न व्यक्तियों के लक्षणों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है । इस प्रकार गीता में वर्णित देवता सद्गुण संपन्न मनुष्य मात्र ही हैं। अत: स्पष्ट है कि कोई भी मनुष्य कितना भी महान् क्यों न हो, उसमें कितने भी सद्गुण क्यों न हों, वह प्रसन्न होने पर वृष्टि नहीं कर सकता है और न ही कुपित होने पर सूखा डाल सकता है ।

१६ वें अध्याय में दैवी सम्पदा संपन्न व्यक्तियों के लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से है—

निर्भयता, शुद्ध सामर्थ्य, ज्ञान योग में व्यवस्थित निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और सरलता । १६।१॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निन्दा त्याग, भूतदया, अलोलुपता, कोमलता, लज्जा, अचपलता ॥ १६।२॥

तेज, क्षमा, धैर्य्य, शुद्धता, अद्रोह, अपने को अत्यन्त पूज्य न मानना, यह चिन्ह होते हैं, सम्पदा दैवी को प्राप्त हुए पुरुषों में, भारत ! ॥ १६।३॥

इस प्रकार से उपरोक्त सद्गुण संपन्न व्यक्ति ही गीता के अनुसार देवता माने गये हैं । आजकल हम जिन्हें आदर्श पुरुष मानते हैं, उन्हें ही गीता की भाषा में देव कहा गया है । "इन देवताओं की भावना करो" अर्थात् इनके द्वारा प्रतिपादित आदर्शों का पालन करो, यह गीता का आवाहन है ।

दूसरा प्रश्न जो स्वतः ही उत्पन्न होता है कि इन आदर्शों का पालन किस प्रकार किया जाये? गीता का स्पष्ट निर्देश है कि इन आदर्शों का पालन यज्ञ द्वारा किया जाये।

यज्ञ भारतीय समाज का सबसे बहुमूल्य शब्द है। यज्ञ विहीन हिन्दू समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। गीता की यज्ञ के विषय में स्पष्ट धारणा है कि "यज्ञः कर्मसमुद्भवः" ॥ ३।१४॥ अर्थात् यज्ञ कर्मों से होता है"। स्पष्ट है कि यज्ञ कर्म का ही विकसित रूप है तथा कर्म गीता के अनुसार मूल रूप से त्याग ही है।

"भूत भावोद्भव करो विसर्गः कर्म संज्ञितः" ॥ ८।३॥

भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला त्याग कर्म कहा जाता है। इस प्रकार यज्ञ कर्म अर्थात् त्याग की ही प्रतिमूर्ति है। कोई भी आदर्श बिना त्याग के, बिना यज्ञ के संभव ही नहीं है। यज्ञ द्वारा ही आदर्श प्रतिपादित किये जाते हैं और इसके विपरीत जिन आदर्शों के प्रति यज्ञ का भाव छोड़ दिया जाये तो वे आदश और उन आदर्शों को पालन करने वाले समाज और व्यक्ति भी लुप्तप्राय हो जाते हैं। आदश हीन समाज अधोगति को प्राप्त होता है। इस प्रकार समाज को और देवताओं अर्थात् आदर्श पुरुषों को जोड़ने वाली कड़ी यज्ञ है। यज्ञ द्वारा ही देवताओं की भावना की जाती है, यज्ञ द्वारा ही समाज उत्कृष्टतम स्थिति को प्राप्त होता है।

इतिहास के सन्दर्भ में भगवान राम और कृष्ण की भावना की छत्रपति शिवाजी ने, कालान्तर में छत्रपति शिवाजी की भावना की महारानी लक्ष्मीबाई और तांतिया टोपे ने, तथा वर्तमान काल में इन वीरों की भावना की महात्मा गांधी, वीर सावरकर तथा नेताजी सुभाष-चन्द्र बोस ने, इसके फलस्वरूप समाज उत्कृष्टतम स्थिति अर्थात् पूर्ण स्वतंत्रता को प्राप्त हुआ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अन्न से होते हैं सब प्राणी (प्राणियों का अस्तित्व अन्न पर आधारित है) वर्षा से अन्न की सम्भावना होती है (किन्तु मात्र वर्षा से ही अन्न उत्पन्न नहीं होता) वर्षा यज्ञ से होती है अर्थात् वर्षा की सार्थकता यज्ञ, परम

लोकोपकारी कर्म कृषि द्वारा होती है। यज्ञ कर्म द्वारा होता है। कर्म को बह्म अर्थात् प्राण से उत्पन्न हुआ जान, और (ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न होता है) 'अक्षरम् ब्रह्म परमं (८।३)' परम अक्षर ब्रह्म है, ब्रह्म अर्थात् प्राण, अक्षर अर्थात् ब्रह्म (प्राण) से ही उत्पन्न होता है। ब्रह्म और अक्षर गीता में परस्पर शब्द वाच्य हैं। प्राण, प्राण से ही उत्पन्न होता है यह आज भी प्राणी शास्त्र का मान्य सिद्धांत है (Omne vivum exvivo—प्राण सदा प्राण में से ही उत्पन्न होता है) इस प्रकार सर्व व्यापी ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

इस प्रकार चलाये हुए चक्र का जो इस लोक में अनुगमन नहीं करता है; वह पापायु इन्द्रियों में रमण करने वाला पुरुष व्यर्थ ही जीता है, हे अर्जुन !

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

जो परन्तु आत्मा में प्रीति करने वाला ही है, आत्मा में तृप्त और मानव, आत्मा में हो और सन्तुष्ट, उसके लिये कोई कार्य नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

उसका इस लोक में कर्म करने से प्रयोजन नहीं है और न करने से भी कोई प्रयोजन नहीं और उसका सब प्राणियों से कुछ भो स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है।

यद्यपि भगवान यह प्रतिपादित करते हैं कि यज्ञ की उत्पत्ति, प्राणियों के साथ ही, विधाता ने की अर्थात् यज्ञ प्राणी मात्र के रक्त में है; तथा जो अन्न सब प्राणियों का आधार है वह भी यज्ञ द्वारा हो प्राप्त होता है, इसलिये यज्ञ सबके लिये अपरिहार्य है। यज्ञ के बिना मनुष्य की गति नहीं है। फिर भी कुछ लोग जैसे नानक, चैतन्य, कबीर, मीरा आदि जो कि आत्मा अर्थात् अध्यात्म धारणा की ही प्रतिमूर्ति होते हैं उन्हें भगवान यज्ञ की परिधि में नहीं बांधते हैं। उन पर यज्ञ कर्म थोपा न जाय नहीं तो मानव प्रतिभा ही कुण्ठित हो जायगी। इन संतों ने अपने को यज्ञ व्यवस्था में नहीं बांधा, किन्तु अपने अस्तित्व मात्र से ही भारतभूमि को धन्य कर गये। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति नानक, कबोर नहीं हो सकता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिये अनासक्त होकर निरन्तर करने योग्य कर्म को कर, क्योंकि करता हुआ कर्म, परमगति को प्राप्त होता है अनासक्त पुरुष। (उदाहरणार्थ)

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

(१) कर्म से ही निःसन्देह परम सिद्धि को प्राप्त हुए जनक आदि, (२) लोक संग्रह ही को भी देखते हुए कर्म करना योग्य है ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

जो, जो करता है श्रेष्ठ पुरुष वही-वही दूसरे पुरुष भी करते हैं। वह जो कुछ प्रमाणित कर देता है, लोक उसके अनुसार चलता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ ! नहीं मुझे कुछ भी है करना। तीनों लोकों में कुछ भी नहीं है कोई अप्राप्त वस्तु जो प्राप्त करनी हो, करता हूँ, फिर भी और कर्म।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

क्योंकि यदि मैं भी कभी आलस्य का त्याग कर कर्म न करूं तो हे पृथापुत्र अर्जुन। मनुष्य सब तरह से मेरे मार्ग का अनुसरण करने लग जायँ। (इससे)

उत्सीदेयुरिमेलोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

विनाश हो जाय इस लोक का, न करूँ कर्म तो मैं और वर्ण-संकर का करने वाला बनूँ, तथा नष्ट करूँ इन प्रजाओं को।

उपरोक्त तीन श्लोकों द्वारा भगवान स्वयम् के उदाहरण द्वारा कर्म की प्रेरणा देते हैं— "अर्जुन, मेरी ओर देख, कंस के कारागार में कैसी असहाय अवस्था में मेरा जन्म हुआ। मेरी पहली साँस ही मेरी मौत को निमन्त्रण देती थी। जैसे-तैसे ग्वालों में रहकर बड़ा हुआ किन्तु, आज

जिस वृष्णि राज्य का मैंने निर्माण किया है, वह पूर्णतया समर्थ है। समृद्धिवान है। यदि आज मैं इस महाभारत संग्राम में भाग न लूँ तो भी मेरा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। किन्तु यदि मैं तटस्थ रहूँ, कुन्ती के पुत्रों को उनका न्यायोचित अधिकार दिलाने के लिये, द्रौपदी के अपमान का बदला लेने के लिये, इस युद्ध में भाग न लूँ तो सारे भारतवर्ष के लोग जो आज मेरा अनुकरण कर रहे हैं, अन्याय को सहने वाले पतित वर्णसंकर हो जायेंगे; और सारी लोक-मर्यादा नष्ट हो जायेगी। इस चरित्र ह्रास का उत्तरदायित्व मुझ पर होगा।"

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

आसक्त होकर कर्म में अज्ञानी वैसे कर्म करते हैं, भारत! करे विद्वान भी (सब कर्म) वैसे ही अनासक्त होकर लोक संग्रह की इच्छा से।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

न ज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करे किन्तु कराये उनसे भी सब कर्मों को विद्वान योगयुक्त होकर (स्वयं) करता हुआ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

प्रकृति के गुणों से सब प्रकार से कर्म होते हैं किन्तु अहंकार से जिसकी आत्मा भ्रमित हो गई है, वह सब कर्मों को करने वाला हूँ "मैं", ऐसा मानता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

हे महाबाहो! तत्ववेत्ता जो गुण और कर्म के विभाग को जानता है यह समझकर कि गुण गुणों में कार्य कर रहे हैं, आसक्त नहीं होता। (गुणों और उनके प्रभाव का वर्णन विस्तारपूर्वक १४ वें अध्याय में किया गया है)

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों से मोहित हुए मनुष्य फँसे रहते हैं गुण-कर्मों में, उन अल्पज्ञ मन्द बुद्धि पुरुषों को पूर्ण ज्ञानी विचलित न करें।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मुझे (अधियज्ञ अर्थात् धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग के हेतु) सब कर्मों को अध्यात्म चित्त से समर्पित करके आशा रहित, ममता रहित तथा सन्ताप रहित होकर युद्ध करो ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो मेरे इस मत का नित्य अनुसरण करते हैं, श्रद्धावान होकर दोष बुद्धि से रहित, छूट जाते हैं वे भी कर्मों से । किन्तु—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

जो और दोष दृष्टि वाले मेरे इस मत के अनुसार आचरण नहीं करते, उन सम्पूर्ण ज्ञान से हीन असावधान पुरुषों को नष्ट हुआ समझो ।

इतिहास के पृष्ठ ऐसे उदाहरणों से भरे हुए हैं कि जो जातियाँ धर्म-युद्ध के लिये तत्पर न हुईं वे अपनी समस्त विद्या, बुद्धि, वैभव, संस्कृति सहित स्वयं की असावधानता के कारण ही नष्ट हो गईं ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है। सब प्राणी भी अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं। (हठ पूर्वक) निग्रह क्या करेगा । किन्तु—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने विषय में राग भी रहता है और द्वेष भी। इन दोनों के वश में नहीं आना चाहिये, क्योंकि ये दोनों मार्ग के ठग हैं ।

श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

श्रेष्ठ है अपना गुण रहित धर्म, भली प्रकार अनुष्ठान किये गये दूसरे के धर्म से; अपने धर्म में मरना अच्छा है, परधर्म भयप्रद है ।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

फिर किससे प्रेरित होकर पाप करता है यह मनुष्य ? न चाहते हुए भी बल पूर्वक जैसे लगाये हुए के, हे वृष्णि-वंशी !

(भगवन् ! यदि सारी सृष्टि यज्ञ से अनुप्राणित है, जो अन्न हम खाते हैं, वह भी यज्ञ द्वारा ही प्राप्त होता है । आप जैसे महापुरुषों का आदर्श भी सबके सामने है, लोकसंग्रह का आधार भी यज्ञ है तो मनुष्य पाप क्यों करता है ? मुझे तो यह कर्म, यह यज्ञ, यह आदर्शवाद, और यह लोकसंग्रह व्यर्थ ही दिखता है) ।

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥३७॥

यह काम है ! यह क्रोध है ! यह रजोगुण से उत्पन्न हुआ है । वहुत खाने वाला बड़ा पापी है ! जानो इसको यहाँ बैरी !

भगवान पाप को एक मनोविकार प्रतिपादित करते हैं । रजोगुण एक स्वाभाविक वृत्ति है जिसके द्वारा मनुष्य कार्य के लिये प्रेरित होता है । रजोगुण की प्रबलता कामना बढ़ाती है, उनकी अपूर्ति क्रोध उत्पन्न करती है, यहीं से काम और क्रोध के प्रभाव से पाप की उत्पत्ति होती है । इस काम का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएँ से आग और धूल से शीशा ढक जाता है, जैसे झिल्ली से गर्भ ढका होता है, वैसे ही काम से यह ज्ञान ढका रहता है ।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

ढका हुआ है यह ज्ञान, इस ज्ञानियों की नित्य बैरी, कामरूप कभी न तृप्त होने वाली अग्नि से है कौन्तेय और—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रिय, मन, बुद्धि इसके निवास-स्थान कहे जाते हैं । इनके द्वारा यह मोह लेता है ज्ञान को ढक कर, देहधारी के ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये तुम पहले इन्द्रियों को नियमित करके, हे भरतर्षभ ! इस ज्ञान-विज्ञान के नाशक महान् पापी काम को निश्चयपूर्वक मारो ।

इन्द्रियाणि पराण्याहु रिन्द्रियेभ्य: परं मन: ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स: ॥४२॥

इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहते हैं । इन्द्रियों से परे मन है, मन से और परे बुद्धि है; जो बुद्धि से भी और परे है, वह आत्मा है ।

एवं बुद्धे: परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धि से परे जानकर, वश में करके आत्मा को आत्मा से, मार दो कामरूप दुर्जय शत्रु को ।

यह गीता का अनमोल श्लोक है । यहाँ स्पष्ट शब्दों में आत्मा को आत्मा से संयत करने के लिये निर्देश दिया गया है, किन्तु हमारा चिन्तन मन के संयम से आगे नहीं बढ़ता । हमारी गति मन के संयम के आगे चलती ही नहीं है । चिन्तन के इस दोष की ओर श्री अरविन्द घोष ने संकेत मात्र किया और दो आत्माओं की रचना कर दी "(महत्तर और यथार्थ में सचेतन आत्मा के द्वारा अन्त:करण रूप निम्न आत्मा को स्थिर निश्चल करके" — गीता प्रदीप पृ० ४७)

निश्चित रूप से घुमा-फिरा कर वही मनोनिग्रह की बात कही गई है और इसलिये उच्च और निम्न आत्मा की कल्पना की गई है। इस चिन्तन द्वारा जो ४२ वें श्लोक में आत्मा को इन्द्रिय, मन और बुद्धि से श्रेष्ठ प्रतिपादित करने का भाव है, वह स्वत: ही समाप्त हो जाता है । इस दुविधापूर्ण स्थिति का समाधान न किसी कोश के अवलोकन से, और न ही किसी भाष्य के अध्ययन से होता है। इस श्लोकांश का अर्थ स्वयं गीता द्वारा ही प्राप्त होता है ।

"बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मनं नियम्य च" (१८।५१) विशुद्ध बुद्धि से युक्त धृति से आत्मा का नियमन करके" । अत: "संसतभ्य आत्मानं आत्मना" का उपरोक्त अर्थ गीता द्वारा ही प्रतिपादित है ।

उपरोक्त दो श्लोकांशों द्वारा गीता सम्पूर्ण अध्यात्म धारणा और निष्काम कर्मयोग का समन्वय करती है। यह निर्विवाद है कि गीता का

निष्काम कर्मयोग अध्यात्म पर आधारित है। गीता की अध्यात्म धारणा और निष्काम कर्मयोग एक-दूसरे की प्रतिमूर्ति हैं। किन्तु निष्काम कर्म योग के मार्ग में यदि अध्यात्म धारणा का अतिवाद वाधा उत्पन्न करता है तो गीता निष्काम कर्मयोग को संचालित करने वाली बुद्धि द्वारा उस अतिवाद को नियमित करने का आदेश देती है। इस प्रकार निष्काम बुद्धि, अध्यात्म का, आत्मा का ही भाग होने के कारण ही आत्मा का नियमन करने में समर्थ है, यह आत्मा द्वारा ही आत्मा का नियमन है।

आत्मा एक है दो नहीं। मन कभी भी आत्मा का पर्याय नहीं हो सकता। गीता के अनुसार ब्रह्म का; प्राण का स्वभाव अध्यात्म कहा गया है (८।३) इस परिभाषा द्वारा स्पष्ट है कि जिस प्रकार आँख, नाक, कान के देखना, सूँघना ग्रौर सुनना स्वभाव हैं, उसी प्रकार प्राण का स्वभाव है कि वह प्राणी मात्र में एक जैसा निर्दोष और सम है (निर्दोषं हि समं ब्रह्म -५।१९)। हाथी और चींटी के प्राण में कोई अन्तर नहीं है। इसी चिन्तन की दूसरी स्थिति है कि जैसा प्राण मुझ में है वैसा ही अन्य जीवों में भी है अत: जैसा मेरा सुख-दु:ख है, वैसा ही प्राणी मात्र का है। यह भाव आत्म भाव है। इसी चिन्तन की अगली स्थिति है कि सब प्राणी इस आत्म भाव में और ईश्वरत्व में स्थित हैं।

इस भाव का, आत्म भाव का अतिरेक भी एक प्रकार का असंयम ही है और जिस प्रकार इन्द्रिय, मन और बुद्धि का असंयम पाप की वृद्धि करता है, उसी प्रकार आत्म भाव का असंयम भी पाप की वृद्धि करता है। जिस प्रकार से काम रूपी दुर्जय शत्रु को मारने का आदेश दिया गया है, उसी प्रकार आत्म भाव को भी संयत करने का आदेश गीता देती है।

राजा पाण्डु का जीवन इस आत्म भाव के असंयम और उसके दुष्प्रभाव का ज्वलंत उदाहरण है। राजा पाण्डु एक बार शिकार खेलते हुए वन में घूम रहे थे। दूर से एक हिरण को सोते हुए देखा, निशाना साध कर तीर छोड़ दिया। सहसा तीर लगने से मानव-क्रन्दन का स्वर सुनाई दिया। राजा पाण्डु ने पास जाकर देखा तो पता लगा कि जिसे उन्होंने हिरण समझा था, वह वास्तव में एक आश्रमवासी मुनि था जो मृग-चर्म ओढ़कर अपनी पत्नी के साथ संभोगरत था। उस मुनि ने तत्काल शाप दिया कि "राजा, आज जिस संभोगरत अवस्था में मैं मर रहा हूँ, तुम भी संभोग करते हुए वैसे ही मृत्यु को प्राप्त होगे।"

राजा पाण्डु को घोर पश्चात्ताप हुआ। उनने जो विलाप किया, महाभारत का वह अंश, बड़ा हृदयद्रावी है। उसी विषाद की अवस्था में राजा राज्य को त्याग कर, अपनी दोनों पत्नियों के साथ वन में तपस्या के लिये चले गये।

वन में कुछ काल के उपरान्त एक दिन रानी माद्री ने साधारण-सा शृंगार किया, राजा काम के वशीभूत हुए और मृत्यु को प्राप्त हो गये। कितना निकम्मा जीवन, न आत्मा का संयम रहा न मन का। एक राजा के लिये भूल से हत्या हो जाने के कारण राज्य का परित्याग करना, क्षात्र धर्म से विमुख होना, प्रजापालन का पवित्र कार्य छोड़ देना, यह आत्मा का असंयम है। इसीलिये भगवान कहते हैं—अर्जुन, आत्मा का संयम करके कामरूपी दुर्जय शत्रु को मार दो। राजा पाण्डु से दोनों ही नहीं सधे, फलस्वरूप राज्य दुर्योधन के हाथ में चला गया और पाप की वृद्धि हुई। इस प्रकार आत्मा का असंयम, पाप की उत्पत्ति और वृद्धि का कारण हुआ।

इसी आत्मभाव के संयम को प्रतिपादित करने के लिये गीता में विधेयात्मा, नियत आत्मभिः, यतचित्त आत्मा, विजित आत्मा, संयत आत्मा, शुद्ध आत्मा, आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

महाभारत की पृष्ठभूमि में पाप के उन्मूलन के लिये भगवान का आत्मसंयम का उपदेश पूर्णतया सार्थक है। आत्मभाव में से ही सत्य, ब्रह्मचर्य, दान आदि श्रेष्ठ भाव विकसित होते हैं और उपरोक्त भावों की जीवित अतिवादी प्रतिमूर्ति युधिष्ठिर, भीष्म, कर्ण आदि उस काल में विद्यमान थे। फिर भी दुर्योधन का पाप बढ़ रहा था। इसलिये गीता का आत्मसंयम जीवन में अध्यात्म धारणा के अतिवाद के विरुद्ध उद्घोष है। समय-समय पर इसी अतिवाद को संयत करके ही भगवान पाप के उन्मूलन में समर्थ हुए।

* * *

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥४।१७॥

क्योंकि कर्म का भी तत्व जानना चाहिये, और जानने योग्य है तत्व विकर्म का और अकर्म का रहस्य भी जानना आवश्यक है। क्योंकि कर्म की गति गहन है।

चतुर्थ अध्याय

यज्ञ का अमिट और व्यापक प्रभाव होते हुए भी मनुष्य क्यों पाप करता है ? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने तीसरे अध्याय में अन्त के सात श्लोकों में दिया ।

अब भगवान यज्ञ द्वारा पाप के उन्मूलन का रहस्य अर्जुन को समझाते हैं ।

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

विवस्वान से (सूर्य से) इस अव्यय योग को मैंने कहा था। विवस्वान ने मनु से कहा, मनु ने इक्षवाकु से कहा ।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

इस प्रकार से परम्परा से प्राप्त इस योग को राजऋषियों ने जाना, वह योग इस लोक में बहुत समय से नष्ट हो गया है । परन्तप !

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वह ही यह पुरातन योग मैंने तुझसे अब कहा है। क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है, तथा यह योग उत्तम रहस्य है ।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

पीछे हुआ है आपका जन्म (उसके) पहले जन्म विवस्वान (सूर्य) का । कैसे यह मैं मानलूँ कि आपने आदि में कहा था यह योग ।

उपरोक्त श्लोक गीता के सबसे रहस्यमय श्लोक हैं। किसने कहा ? क्या कहा ? किससे कहा ? कब कहा ? क्यों कहा ? कैसे कहा ? ये विचारणीय प्रश्न हैं । भगवान ने जो आठवें अध्याय में अपने को अधियज्ञ अर्थात् सर्वोपरि यज्ञ (धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग) कहा है, उसी भाव के साथ अपने को यहाँ पूर्णतया एकात्म किया है ।

सूर्य को जो कर्मयोग के लिये प्रेरित कर सके, ऐसे भाव की उत्पत्ति सूर्य की उत्पत्ति से पूर्व ही सृष्टि में विद्यमान होनी चाहिये । सूर्य के

निर्माण के उपरान्त जो भी इस सृष्टि-क्रम में उत्पन्न हुआ, वह सूर्य का प्रेरणा-स्रोत नहीं हो सकता। सूर्य से पूर्व सृष्टि की अवस्था का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय ब्राह्मण के तीन मंत्रों में किया गया है। "आरम्भ में यहाँ कुछ भी नहीं था। केवल बुभुक्षा स्वरूप मृत्यु से विश्व आवृत्त था। उस मृत्यु से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश की शर शक्ति की पृथ्वी तत्व में परिणति हुई। (Energy of the space turned into matter) फिर उस मृत्यु ने श्रम और तप किया और तेजोरस उत्पन्न हुआ। यह तेजोरस तीन भागों में विभक्त हुआ। आदित्य, अन्तरिक्ष और पृथ्वी।
(वृ०उ० काव्य तीर्थ पं० शिवशंकर शर्मा)

"नैवेह किंचनाग्र आसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्, तस्यार्चत आपोऽजायन्त, अर्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्। कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥१॥

आपो वा अर्कः, स्तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यतं। सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्, तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्ततताग्निः ॥२॥

स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत। आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयं, स एष प्राणस्त्रेधा विहितः ॥३॥

प्रारम्भ में यहाँ कुछ भी नहीं था। बुभुक्षा स्वरूप मृत्यु से ही यह आवृत्त था। क्योंकि बुभुक्षा स्वरूप ही मृत्यु है। उसने यह मन किया कि मैं प्रयत्नवान होऊँ—, उसने अर्चना करते हुए, संचारित किया। अर्चना करते हुए उसके समीप आकाश उत्पन्न हुआ। अर्चना करते हुए मेरे (मृत्यु के) लिए यह ब्रह्माण्ड हुआ। यही अर्क का अर्कत्व है। जो कोई इस प्रकार अर्क के इस अर्कत्व को जानता है, निश्चय उसको सुख प्राप्त होता है। ॥१॥

निश्चय, आप अर्थात् आकाश अर्क (ब्रह्माण्ड) है। आकाश की जो शर अर्थात् उपमर्दिका शक्ति थी, वह सब इकट्ठी हुई, वह पृथ्वी हुई, तब उस पृथ्वी के होने के अनन्तर मृत्यु ने श्रम किया तथा श्रान्त और तप्त मृत्यु की महिमा से अग्नि रूप तेजोरस उत्पन्न हुआ। ॥२॥

उस मृत्यु ने संसार रूप प्रयत्न को तीन भागों में विभक्त किया। तीसरा आदित्य अर्थात् सूर्य (वायु और अग्नि की अपेक्षा तीसरा) तीसरा वायु (आदित्य और अग्नि की अपेक्षा तीसरा) और तीसरा अग्नि। वह यह प्राण तीन भागों में विभक्त हुआ। ॥३॥

इस प्रकार मृत्यु में से तेजोरस की उत्पत्ति, निसर्ग का महान्तम परिवर्तन आदि और सर्वोपरि यज्ञ सूर्य का प्रेरणा-स्रोत सूर्य की उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान था। यही पौराणिक काल में अवतारवाद तथा इतिहास में जो धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग के रूप में बारम्बार प्रस्फुटित हुआ, इसी सर्वोपरि यज्ञ को गीता अधियज्ञ कहती है तथा भगवान इसी से अपने को एकात्म करते हुये उपरोक्त श्लोक कहते हैं। यही सूर्य का प्रेरणा-स्रोत है तथा सूर्य से पहले भी विद्यमान था।

वास्तव में यज्ञ द्वारा पाप उन्मूलन के क्रम में मृत्यु में से उत्पन्न तेजोरस, धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग ही प्रबलतम उपाय है, यही गीता का "मैं" है। यह प्राणीमात्र में विद्यमान है, गीता इसी प्राणोत्सर्ग का गीत है। यही गीता में ईश्वर है।

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।५।।

बहुत से हो चुके हैं मेरे और तेरे जन्म, हे अर्जुन ! उन सबको मैं जानता हूँ; हे परन्तप, तू उनको नहीं जानता है। अनेक बार इस पृथ्वी पर अधियज्ञ का भाव उठा है, अनेक बार अर्जुन के समान ईश्वरीय विभूतियों द्वारा यह जगत अभिभूत हुआ है; इस तथ्य को साधारण व्यक्ति नहीं जान पाता। केवल युग-द्रष्टा ही जान पाता है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।६।।

अजन्मा भी होने पर, अविनाशी आत्मभाव भी होने पर सब प्राणियों का ईश्वर भी होते हुए, प्रकृति को अपने आधीन करके प्रकट होता हूँ आत्मा की शक्ति से।

१. 'अज'—बलिदान का जन्म नहीं होता है। जन्म, पार्थिव शरीर का आरम्भ होता है, बलिदान पार्थिव शरीर का धर्म हेतु विसर्जन होता है।

२. 'अव्यय आत्मा'—इस शब्द का स्पष्टीकरण ११वें अध्याय के चौथे श्लोक के अध्ययन से होता है। अर्जुन ने भगवान से अनुग्रह किया कि—

'दर्शयात्मानमव्ययम्'—अव्यय आत्मा का दर्शन कराइये।

अर्जुन की इस प्रार्थना पर भगवान ने विश्वरूप का दर्शन कराया। इस को देख कर अर्जुन ने उनकी अनेक प्रकार से स्तुति की और कहा—

'त्वमव्यय शाश्वत धर्म गोप्ता'—आप अविनाशी सनातन धर्म के रक्षक हैं। अतः 'अव्यय आत्मा' का अर्थ विश्वरूप (शाश्वत धर्म गोप्ता) प्रतिपादित होता है और धर्म की रक्षा सर्वोपरि यज्ञ 'अधियज्ञ' अर्थात् बलिदान द्वारा ही होती है । इसी शाश्वत धर्म के रक्षक की स्तुति सभी ऋषि गण, साध्य गण करते हैं।

३. 'भूतानामीश्वर'—मैं प्राणियों का ईश्वर हूँ। प्राणी की सर्वोपरि सम्पत्ति उसका प्राण, और उस प्राण का धर्म हेतु बलिदान मनुष्य का सर्वोपरि भाव, ईश्वरत्व अथवा अधियज्ञ है जो प्राणी मात्र के देह में स्थित है।

४. 'प्रकृति स्वाम् अधिष्ठाय'—भौतिक प्रकृति अन्तर्गत मनुष्य अपना अस्तित्व ही प्रमुख मानता है और उसके लिये आजीवन प्रयत्न करता रहता है, किन्तु अधियज्ञ का भाव उदय होते ही मनुष्य की यह प्रकृति नियन्त्रित हो जाती है, तथा—

५. 'सम्भवाम्यात्ममायया'—मैं आत्मा की माया अर्थात् आत्मा की शक्ति से प्रकट होता हूँ। संसार में जहाँ-जहाँ भी धर्म रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग हुआ है, वह आत्मा की शक्ति से ही उत्पन्न हुआ है। प्रत्येक बलिदान की पूर्व सन्ध्या में आत्मा अर्थात् अध्यात्म धारणा की ज्योति प्रज्वलित होती है। उस आत्मा की शक्ति में से ही अधियज्ञ का भाव उदित होता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

जब-जब धर्म का ह्रास होता है, हे भरतवंशी ! वृद्धि होती है अधर्म की, तब-तब मैं आत्मा को प्रकट करता हूँ (प्राणियों में आत्मभाव उत्पन्न करता हूँ, तब-तब मैं नानक, कबीर, मीराबाई के गीत बन कर गूँजता हूँ। इस प्रकार मध्य युग में सन्त कवियों के द्वारा आत्मभाव का सृजन किया गया। कालान्तर में यही भाव सिख, मराठा, जाट आदि के विद्रोह के रूप में प्रस्फुटित हुआ तथा मुगल साम्राज्य का अन्त हुआ।

अंग्रेजों की दासता से मुक्ति पाने के लिये सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक ने आत्मभाव का सृजन किया। कालान्तर में इसी आत्मभाव की पृष्ठभूमि में महात्मा गांधी द्वारा असहयोग आन्दोलन का उद्घोष हुआ और वीर सावरकर के नेतृत्व में अनेक क्रांतिकारियों ने प्राणोत्सर्ग किया। जन-साधारण में इसी आत्मभाव द्वारा सन् १९४२ में प्राणोत्सर्ग का भाव उत्पन्न हुआ, तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा स्वतंत्रता-संग्राम में अन्तिम आहुति अपने

प्राण होम कर दी गई। इस प्रकार अधर्म के नाश के लिये पहले आत्मभाव का सृजन होता है, उसी आत्मभाव में से फिर प्राणोत्सर्ग के भाव की उत्पत्ति होती है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

रक्षा के लिये, साधुजनों की, विनाश के लिये और दुष्कृतों के धर्म की स्थापना के लिये प्रकट होता हूँ युग-युग में।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन! जो मेरे (धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग के) दिव्य जन्म और कर्म को इस प्रकार से, तत्व से जानता है, वह देह को त्याग कर (देह के प्रति आसक्ति को त्याग कर) पुनर्जन्म को (भोगवादी जीवन को) प्राप्त नहीं होता, अपितु मुझे प्राप्त होता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से मुक्त, जिनका चित्त मुझ में ही लगा रहता है, जो मेरा ही आश्रय लिये रहते हैं, ऐसे ज्ञान रूप तप से पवित्र हुए बहुत से पुरुष मेरे भाव को पा चुके हैं। इसी भाव के अन्तर्गत भक्त कबीर ने कहा—

सूरा सोइ सराहिये लड़े धर्म के हेत।
पुरजा पुरजा कट पड़े तऊ न छाँड़े खेत ॥

इसी प्रकार के अनेक भाव संतों की वाणी में अनेक स्थानों पर व्यक्त किये गये हैं। इस प्रकार संत समुदाय अधर्म नाश का दूसरा माध्यम है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो जैसे मुझे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ। मेरे ही मार्ग पर चलते हैं मनुष्य, हे अर्जुन! सब प्रकार से।

धर्म रक्षा हेतु जो भी मार्ग अपनाया जाय, सब में बलिदान का भाव विद्यमान रहता है, यह भाव योद्धा के शस्त्र के साथ और सन्त की वाणी के साथ एक-सा रहता है, कारण कि बलिदानी वीर और संत दोनों का ही उद्देश्य अधर्म का नाश होता है।

काङ्क्षन्तःकर्मणांसिद्धि यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

चाहने वाले कर्मों की सिद्धि, पूजते हैं इस जगत में देवताओं को। मनुष्य लोक में कर्मों से उत्पन्न हुई सिद्धि शीघ्र ही होती है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

चार वर्ण मैंने बनाये गुण और कर्म के विभागानुसार उनके (निर्माण) कर्त्ता मुझ अविनाशी को तू अकर्ता ही जान।

जिस प्रकार ईसाई धर्म के मूल में प्रभु ईसा मसीह का बलिदान है, इस्लाम के मूल में पैगम्बर मुहम्मद का त्यागमय जीवन है, सिख गुरुओं के बलिदान सिख पंथ का आधार है, उसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म का मूल भी बलिदान है। गुण और कर्म के विभागानुसार वर्णाश्रम धर्म भगवान कृष्ण के जन्म से बहुत पहले से भारतवर्ष में प्रचलित था। इसलिये भगवान द्वारा उसे बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता है, किन्तु, प्रत्येक धर्म का उदय अधियज्ञ अर्थात् सर्वोपरि यज्ञ द्वारा ही होता है। इसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म का मूल भी सर्वोपरि यज्ञ अर्थात् प्राणोत्सर्ग ही है। धर्म की रक्षा भी प्राणोत्सर्ग द्वारा ही होती है। जिस धर्म के अनुयायी अपने धर्म की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग नहीं करते, वह धर्म पाखण्ड मात्र होकर रह जाता है। किन्तु यदि किसी भी धर्म के अनुयायी जागरूक न रहें तो यह बलिदान भाव अकर्ता हो जाता है। कनवाहा के युद्ध में राजपूतों में बलिदान भाव था, पर तोपें नहीं थीं इसलिये पराजय हुई। सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम में हिन्दुओं और मुसलमानों की अंग्रेजों के हाथों जो पराजय हुई, वह बलिदान भाव की कमी के कारण नहीं, केवल योजना और संगठन के अभाव के कारण हुई। अतएव भगवान कहते हैं कि मुझ अविनाशी को तू अकर्ता ही जान। ईश्वर अकर्ता है, यह भाव ५वें अध्याय के १४।१५ श्लोक में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म नहीं छू पाते (बलिदान भले-बुरे कर्मों से परे होता है) मुझे कर्मों के फल की इच्छा भी नहीं है (बलिदानी को कर्म का फल प्राप्त नहीं होता) जो इस प्रकार मुझे तत्वतः जानता है, वह कर्मों में नहीं बँधता।

अधर्म के उन्मूलन में, पापियों के नाश में अधियज्ञ का, संतों का, देव पूजा का और वर्णाश्रम धर्म का महत्व बताकर भगवान कर्म द्वारा अधर्म के नाश का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

ऐसा जानकर ही कर्म किया है पहले भी मोक्ष के अभिलाषी पुरुषों ने। इसलिये तुम भी पूर्वजों द्वारा पूर्व काल में किये गये कर्म को ही करो।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

क्या कर्म है, क्या अकर्म है, इस विषय में बुद्धिमान भी मोहित हो गये हैं। किन्तु मैं तुमसे वह कर्म कहूँगा जिसको जानकार तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

क्योंकि कर्म (प्रेरणादायक त्याग) का भी तत्व जानना चाहिये और जानने योग्य है, तत्व विकर्म (वर्जितकर्म) का और अकर्म (प्रेरणाहीन त्याग) का रहस्य भी जानना आवश्यक है, क्योंकि कर्म की गति गहन है।

गीता के अनुसार कर्म की एक निश्चित परिभाषा है।

"भूत भावोद्भव करो विसर्गः कर्म संज्ञितः"

"भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला त्याग कर्म कहा जाता है"
(८।३)।

विकर्म अर्थात् वर्जित कर्म के विषय में भी गीता की निश्चित धारणा है। सोलहवें अध्याय में जो आसुरी सम्पत्ति का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है, यह विकर्म है।

जो न प्रेरणादायक त्याग है, न विकर्म अर्थात् वर्जित कर्म है वह गीता के अनुसार अकर्म है। बहुजन समाज इसी अकर्म (प्रेरणाहीन त्याग) में स्थित रहता है न वह वर्जित कर्म करता है न ही प्रेरणादायक कर्म करता है। जन साधारण केवल जीवन यापन के लिये कर्म करता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है (जो अकर्म को कर्म के समतुल्य मानता है) वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है। अकर्म को कर्म के समतुल्य घोषित कर भगवान बहुजन समाज को सब प्रकार की हीन भावना से मुक्त करते हैं। अकर्म कर्म के समतुल्य है। यह बहुजन समुदाय द्वारा जीवन यापन के लिये किया जाने वाला निरन्तर चलने वाला प्रेरणाहीन त्याग, समाज का आधार है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके सब कर्मों का आरम्भ कामना जन्य संकल्प (स्वार्थ भाव) से रहित होता है तथा जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए होते हैं उसे ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

जो त्याग कर्म फल की आसक्ति को, सदैव सन्तुष्ट रहता है तथा (योग क्षेम के लिये) किसी पर आश्रित नहीं, वह कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो तृष्णा शून्य है, जिसका मन और आत्मा संयत है, जिसने सब प्रकार की संचय वृत्ति को त्याग दिया है, शरीर निर्वाह के लिये केवल कर्म करता हुआ पाप को नहीं पाता।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

(सब प्रकार की संचय वृत्ति को त्याग कर) जो कुछ भी प्राप्त हो उसमें सन्तुष्ट रहने वाला, द्वन्द्वों से मुक्त, ईर्षा रहित, सिद्धि और असिद्धि में एक-सा रहने वाला कर्म करके भी बँधता नहीं है।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

आसक्ति से रहित मुक्त व्यक्ति के, ज्ञान में स्थित है चित्त जिसका,

ऐसे लोक कल्याण के लिये आचरण करने वाले के सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं (सब कर्म जन कल्याण हेतु समर्पित हो जाते हैं) केवल कर्म ही समर्पित नहीं होते, वह अपना प्राण भी होम देता है, उस यज्ञ में।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।२४।।

प्राण है अर्पण, प्राण है हवि, प्राणाग्नि में प्राण के द्वारा जो आहुति दी गई है वह प्राण ही है। ऐसे ब्रह्म कर्म में रत पुरुष द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, वह प्राण ही है।

अनेक महापुरुषों ने तिल-तिल करके अपने प्राण को होम कर मृतप्राय जाति में प्राण का संचार किया। इस प्रकार प्राण की आहुति देने वाले लोगों की उपलब्धि भी प्राण ही होती है। स्मरण किया जाय—महर्षि दयानन्द, लोकमान्य तिलक के यशस्वी जीवन का—उनकी एकमात्र उपलब्धि थी कि उनने जाति में प्राण का संचार किया। ऐसे पुरुषों का अर्पण हवि आहुति, यहाँ तक कि अग्नि भी प्राण ही थी। ब्रह्म यज्ञ में प्राण के अतिरिक्त कोई बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।२५।।

देवताओं के पूजन रूप यज्ञ की ही दूसरे योगी उपासना करते हैं। अन्य कुछ ब्रह्माग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का ही हवन करते हैं (एक लोक-कल्याणकारी कर्म को आधार बना कर दूसरा और तीसरा लोक कल्याण-कारी कर्म क्रमशः करते हैं, इस प्रकार यज्ञ का यज्ञ के द्वारा ही हवन होता है)।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।२६।।

श्रोत्रादिक इन्द्रियों को (१) कुछ अन्य लोग संयम की अग्नि में हवन करते हैं और (२) कुछ दूसरे शब्दादिक विषयों को इन्द्रियों की अग्नि में होम देते हैं ("स्पृहाशून्य होकर श्रोत्रादि इन्द्रियों से सब प्रकार के शब्दादि विषयों का सेवन करते हैं, पर मन विचलित नहीं होने देते, यह विषयों का इन्द्रियाग्नि में होम है)।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।२७।।

सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्मों को और प्राणों के व्यापार को और कुछ

अन्य साधक ज्ञान से प्रकाशित आत्मा के (इन्द्रिय, मन, बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा) संयम की योगाग्नि में हवन करते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।२८।।

द्रव्ययज्ञ तप-यज्ञ योगयज्ञ इसी प्रकार कुछ स्वाध्याय, ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं और यत्नशील पुरुष, पवित्र और दृढ़ व्रतों को धारण करने वाले।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।२९।।

अपान में आहुति देते हैं प्राण की, तथा प्राण में अपान की और ऐसे ही कुछ योगी जन प्राण अपान की गति को रोककर प्राणायाम परायण होते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।।३०।।

दूसरे नियमित आहार करने वाले प्राणों का प्राणों में हवन करते हैं, सब ही यह यज्ञवेत्ता हैं, यज्ञों द्वारा पापों को नष्ट करने वाले।

यज्ञशिष्टामृत भुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यःकुरुसत्तम ।।३१।।

यज्ञों से बचे हुए अमृत का उपभोग करने वाले सनातन ब्रह्म (अव्याकृत प्राण की मायातीत अवस्था) को प्राप्त होते हैं। नहीं है यह लोक भी यज्ञ न करने वाले के लिये, तो परलोक कहाँ है कुरुश्रेष्ठ !

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वाविमोक्ष्यसे ।।३२।।

ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ विस्तार से हैं, प्राण में स्थित। उन सब को कर्मों अर्थात् प्रेरणादायक त्याग द्वारा (ही) होने वाला जान कर बन्धन से मुक्त हो जायगा। (अध्याय ३-१४-१५)

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।३३।।

हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। हे पार्थ, सब प्रकार के सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त होते हैं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

उस ज्ञान को (जिसके कारण द्रव्य यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है, तथा सब प्रकार के कर्म तथा यज्ञ जिसमें अपनी समग्रता सहित समाप्त हो जाते हैं) जानो, नम्रता से प्रणाम करके, शुद्ध भाव से प्रश्न करके सेवा द्वारा; (इससे) उपदेश देंगे वे ज्ञान का, ज्ञानी तत्व को जानने वाले ।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

जिसको जानकर फिर नहीं मोह में इस प्रकार से फँसोगे, पाण्डव जिससे सम्पूर्ण प्राणियों को देखेगा आत्म तत्व में (स्थित) और मुझ में (अधियज्ञ में) स्थित ।

इस अध्याय में गीता यज्ञ द्वारा पाप के नाश का विधान प्रतिपादित करती है सर्व प्रथम (१) 'अहम्' अर्थात् अधियज्ञ—धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग अधर्म नाश का प्रबलतम उपाय (२) संत समुदाय (३) सिद्धि प्राप्ति के लिये देव पूजन करने वाले (४) वर्णाश्रम धर्म के अनुयायी (५) अकर्म को कर्म के समतुल्य घोषित कर, बहुजन समाज को जो अकर्म में स्थित रहता है, गीता उनकी हीन भावना को दूर कर उन्हें पापोन्मुखी होने से रोकती है (६) जो आजीवन लोककल्याणकारी कर्म में रत है (७) इन्द्रिय संयमी (८) प्राणायाम का अभ्यास करने वाले (९) नियत आहार करने वालों को (१०) द्रव्य दान करने वालों को (११) ज्ञानियों (१२) स्वाध्याय करने वालों को, (१३) भिन्न प्रकार के दृढ़व्रती व्यक्तियों को—भगवान यज्ञ में ही समन्वित कर लेते हैं, तथा (१४) जो यह मानते हैं कि सब प्राणी आत्मा में स्थित हैं तथा धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग में स्थित हैं, वे भी अधर्म नाश में ही रत हैं ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाले हो, तो भी ज्ञान की नौका द्वारा सारी कुटिलता को निःसन्देह पार कर जावोगे ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

जैसे ईंधन को जलती हुई अग्नि भस्म कर देती है, हे अर्जुन, ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को वैसे ही भस्म कर देती है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

नहीं निःसन्देह ज्ञान के समान पवित्र करने वाला इस संसार में, उस ज्ञान को योगसिद्ध पुरुष समय आने पर आत्मा में पा लेता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जितेन्द्रिय, तत्पर रहने वाला श्रद्धावान पुरुष (जिसकी बुद्धि सत्य को धारण कर चुकी है) ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान को पाकर (वह) शीघ्र ही वह परम शांति को प्राप्त हो जाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अज्ञानी एवम् श्रद्धाहीन और संशयग्रस्त आत्मा नष्ट हो जाता है—न यह लोक है, न परलोक है, न सुख है जिसकी आत्मा में संशय है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

जिसने योग से कर्मों का संन्यास कर दिया है, ज्ञान से जिसके संशय कट गये हैं जो आत्मवान है, नहीं उसको कर्म बाँधते हैं, हे धनंजय !

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिये अज्ञान से उपन्न हुए हृदय में स्थित, आत्मा के इस संशय, को ज्ञान की खड्ग से काटकर और योग में लग जाओ, उठो, हे भारत !

* * *

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

न कर्तापन को, न प्राणियों के कर्मों को, न कर्मफल संयोग को रचता है ईश्वर। स्वभाव ही प्रवृत्त करता है

न ग्रहण करता है किसी के पाप को, न ही पुण्य को ईश्वर। अज्ञान से ढका हुआ है ज्ञान, इससे जन्तु मोहित हो रहे हैं।

पंचम अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

हे कृष्ण ! कर्मों के संन्यास की, और फिर योग की प्रशंसा करते हो । मेरे लिये इन दोनों में से एक अच्छी तरह से जो निश्चित किया हुआ उत्कृष्टतर हो उसको कहिये ।

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष प्रदान करने वाले हैं, परन्तु उन दोनों में कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही विशेष है ।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

हे महाबाहो ! जो न द्वेष करता है, न आकांक्षा करता है उसे नित्य संन्यासी ही जानना चाहिये, क्योंकि राग-द्वेष से रहित होने के कारण वह सुगमता से ही बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

सांख्ययोगौपृथग्बालाःप्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य और योग को अल्प बुद्धि वाले लोग भिन्न-भिन्न कहते हैं, पण्डित नहीं । जो भली प्रकार एक में भी स्थित रहने वाला है, वह दोनों के फल को पा लेता है ।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो स्थान सांख्य ज्ञानियों को मिलता है, वही योगियों को भी प्राप्त होता है, जो सांख्य तथा योग को एक देखता है वही (वास्तविकता को) देखता है ।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे महाबाहो ! योग के बिना संन्यास को पाना कठिन है । योग युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म (मायातीत, अव्याकृत, प्राण) को प्राप्त होता है ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जो योगयुक्त है (अर्थात् कर्मयोग में लगा हुआ है) जिसकी आत्मा शुद्ध है, जिसने आत्मा को जीता हुआ है तथा जितेन्द्रिय है, सब प्राणियों का आत्मा जिसका आत्मा है वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता हुआ और बन्द करता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों में वर्तती हैं और 'मैं कुछ नहीं करता' ऐसा तत्ववेत्ता मानता है ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

ब्रह्म (प्राण) के लिये आधारित करके, कर्मों को, आसक्ति छोड़कर जो करता है, लिप्त नहीं होता वह पाप में, कमल के पत्ते के समान जल से ।

प्राण अथवा जीवन-यापन के लिये जितना आवश्यक हो उतना कर्म-फल द्वारा ग्रहण करने से मनुष्य कर्मों में लिप्त नहीं होता है—

साईं इतना दीजिये जामें कुटुम्ब समाय ।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु ना भूखा जाय ।।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

काया से, मन से, बुद्धि से, और केवल इन्द्रियों से भी आसक्ति को छोड़कर योगी आत्मा की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं । (जो अध्यात्म धारणा प्रतिपादित की जाये वह कर्म समर्थित है, इसे सिद्ध करने के लिये योगी कर्म करता है । कर्मयोग आत्मा की शुद्धि का साधन है ।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्त पुरुष कर्मफल को त्याग कर (कर्मजन्य सिद्धि द्वारा भौतिक सुखों की वृद्धि न करता हुआ) निष्ठापूर्ण शान्ति को पाता है। (इसके विपरीत) अयुक्त कामना के कारण फल में आसक्त होकर बँध जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सब कर्मों का मन से संन्यास कर संयमी सुखपूर्वक रहता है। नव द्वारों वाले नगर में देहधारी न करता हुआ, न कराता हुआ।

निष्काम कर्मयोग के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा, ईश्वर के प्रति गलत धारणा है। जिस क्षण यह विचार उत्पन्न होता है कि ईश्वर हमें हमारे कर्मों का फल देने वाला है, उसी क्षण निष्काम कर्म का भाव समाप्त हो जाता है। कर्म सकाम हो जाता है। गीता की ईश्वर और कर्म के संबन्ध में धारणा निम्न प्रकार से है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

न कर्त्तापन को न प्राणियों के कर्मों को न कर्मफल संयोग को रचता है ईश्वर, स्वभाव ही प्रवृत्त करता है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

न ग्रहण करता है किसी के पाप को न और ही पुण्य को ईश्वर अज्ञान से ढका हुआ है ज्ञान इससे जन्तु मोहित हो रहे हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान से नष्ट हो गया है, उनका ज्ञान सूर्य के समान उस परम ज्ञान को प्रकाशित करता है। (वह ज्ञान जिसके द्वारा मनुष्य सब प्राणियों को पहले आत्मा में, फिर ईश्वर में स्थित देखता है—४।३५)।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

उसी (ज्ञान में) में बुद्धि वाले, उसी में आत्मा वाले, उसी में निष्ठा

वाले, उसी के परायण रहने वाले ज्ञान से निष्पाप होकर; भोगवाद की ओर न लौटने वाली वृत्ति को प्राप्त होते हैं। (ऐसे आत्मज्ञानी के समक्ष)

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्या एवम् विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल में भी पण्डित समदर्शी होते हैं।

इस ज्ञान में इतनी सामर्थ्य है कि मनुष्य विद्या-संपन्न ब्राह्मण, गज जो कि गजारूढ़ सम्राट का द्योतक है तथा धनवान वैश्य, जिसका प्रतीक इस श्लोक में गौ है, को भी अनुचित कर्मों से रोक सकता है, और चाण्डाल तथा कुत्ते जैसा जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति यदि उचित कार्य करें तो वह उनका समर्थन करता है।

मध्य युगीन संत कवि विद्वान थे, भाषा पर उनका अधिकार था, कलम के धनी थे। सब प्रकार की स्वार्थ-भावना को त्याग चुके थे। वे चाटुकार नहीं थे, उनने अपनी कृतियाँ जन-कल्याण के लिये गलियों में बिखेर दीं थीं।

उच्च वर्णों के जाति अभिमान पर ठोकर मार करके कहा—

"चतुराई चूल्हे पड़े भाड़ पड़े संसार ।
तुलसी हरि के भजन बिन चारों वरण चमार ॥"

संत कुम्भनदास ने अकबर से क्षुब्ध होकर यह पद पढ़ा—

"संतन का सिकरी सन काम ।
आवत जात पनहियाँ टूटीं बिसर गयो हरि नाम ।
जिनको मुख देखत दुःख उपजे तिनको करिवे परी सलाम ।
'कुम्भनदास' लाल गिरधर बिन और सबै बेकाम ।"

धनाभिमानी वैश्य उनके समक्ष अकिंचन थे। गुरु नानक ने सिद्ध कर दिया कि धनवान का अन्न रक्त से सना होता है तथा गरीब की रोटी में से दूध की धार निकलती है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषंहि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि तेस्थिताः ॥१९॥

यहाँ ही जीत लेते हैं संसार को, जिनका मन समता में स्थित है, क्योंकि निर्दोष है, सम है ब्रह्म (प्राण) अतः वे ब्रह्म में स्थित रहते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ।।२०।।

प्रिय को पाकर हर्षित न हो और अप्रिय को पाकर उद्विग्न न हो, ऐसा स्थिर बुद्धि मोह रहित ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित है ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।२१।।

बाहरी विषयों में जिसकी आत्मा अनासक्त है, (वह) आत्मा में जो सुख है, वह पाता है। वह ब्रह्मयोग युक्तात्मा, अक्षय सुख का अनुभव करता है ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।२२।।

जो स्पर्शजनित भोग हैं वे निःसन्देह दुःख उत्पन्न करने वाली प्रकृतियाँ हैं। हे कौन्तेय ! वे आदि और अन्त वाले हैं। उनमें विवेकी नहीं रमता ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।२३।।

जो इस लोक में शरीर छूटने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन करने में समर्थ हैं, वही नर योगी हैं, वही सुखी हैं ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।२४।।

जो अन्तःकरण से सुखी है, जो अपने अन्तःकरण से ही आनन्द प्राप्त करता है, अन्तःकरण से ही प्रकाश प्राप्त करता है, वह योगी ब्रह्म स्वरूप हुआ ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। (प्राण की स्वभाविक स्थिति को प्राप्त हो जाता है तथा प्राण की माया से मुक्ति को पा लेता है)।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।२५।।

प्राप्त करते हैं ब्रह्म निर्वाण को ऋषि, निष्पाप, दुविधा रहित, आत्मा को संयत करने वाले, सब प्राणियों के हित में लगे रहने वाले।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम और क्रोध से रहित यती, संयत चित्त, सब ओर से ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करते हैं, आत्मा को जानने वाले।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ ॥२७॥

स्पर्शजन्य भोगों को बाहर ही करके, नेत्रों को भृकुटि के बीच में करके, नासिकाचारी प्राण और अपान को सम करके–

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

जीत कर इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जो मुक्ति के लिये प्रयत्न करता है; इच्छा, भय और क्रोध को छोड़ देता है, वह ही मुनि सदा मुक्त है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मांशान्तिमृच्छति ॥२९॥

मुझे अधियज्ञ को (सर्वोपरि यज्ञ को) यज्ञों और तपों का भोगने वाला सब लोकों का महान् ईश्वर और सब प्राणियों का सुहृद जान कर शान्ति पा लेता है।

* * *
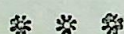
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।५।।

आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को नीचे न गिरने दे, निःसन्देह आत्मा ही आत्मा का बन्धु है। आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

षष्टम् अध्याय

श्री भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

आश्रय त्याग कर कर्मफल का करने योग्य कर्म जो करता है, वही संन्यासी और योगी है। अग्निहीन (प्रेरणाहीन) और क्रियाहीन न संन्यासी है और न योगी।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव ! जिसे संन्यास कहते हैं, वही योग है, ऐसा जानो। क्योंकि संकल्पों का संन्यास न करने वाला कोई भी योगी नहीं होता।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

कर्मयोग पर दृढ़ता से चढ़ने वाले मुनि के लिये कर्म साधन कहा जाता है। जो योगारूढ़ हो गया उसका साधन शम (स्थायी शान्ति का भाव) हो कहा जाता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जव (सिद्धि प्राप्त व्यक्ति) न इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, तब सारे संकल्पों का संन्यास करने वाला 'योगारुढ़' कहा जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

(जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि से श्रेष्ठ, ब्रह्म का मूल स्वभाव जीवन संघर्ष में अकर्ता है, उस) आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करे। आत्मा को नीचे न गिरने दे, निःसन्देह आत्मा ही आत्मा का बन्धु है। आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जो आत्मा से आत्मा को जीत लेता है, उसका आत्मा ही आत्मा का मित्र है और जो आत्महीन है; वह आत्मा से शत्रु जैसी शत्रुता करता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

आत्मा को जीतने वाले का, प्रशान्त अन्तःकरण वाले का परमात्मा, अधियज्ञ (अर्थात् धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का भाव) निश्चित रहता है। गरमी, सरदी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में ।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञान-विज्ञान से जिसकी आत्मा (अध्यात्म धारणा) तृप्त है। निर्विकार-सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त, जितेन्द्रिय, मिट्टी, पत्थर और सोने को समान समझने वाला योगी युक्त है, ऐसा कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु और पापियों में भी समबुद्धि रखने वाले पुरुष विशेष हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी पुरुष एकान्त में अकेला स्थित होकर चित्त और आत्मा को संयत करके आशा एवम् संग्रह वृत्ति का परित्याग कर आत्मा को निरंतर योग में लगाये ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

शुद्ध स्थान पर प्रतिष्ठित करके स्थिर आसन आत्मा का (अर्थात् इन्द्रिय-सुख, अथवा किसी भी प्रकार की भौतिक उपलब्धि के लिये यह आसन नहीं है। मनोकामना और मन से उठने वाली वृत्तियों से भी इसका संबन्ध नहीं है । बुद्धि के व्यापार के लिये भी यह आसन नहीं है। केवल आत्मा के (आध्यात्म धारणा के) विषय में ही चिन्तन के लिये यह आसन है। न बहुत ऊँचे न बहुत नीचे स्थान पर कुश-मृगछाला और उसके ऊपर वस्त्र बिछाये ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

उस स्थान पर आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को संयत करके आत्मा की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करना चाहिये ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

काया सिर और गरदन को सीधा करके स्थिर होकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ अपनी नासिका के अग्रभाग को ही देखकर ।

उपरोक्त श्लोकों द्वारा गीता बारम्बार आत्मा को अर्थात् अध्यात्म धारणा को निरन्तर दिन प्रतिदिन संयत कर कर्मयोग में लगाने की प्रेरणा देती है। असंयत अध्यात्म धारणा कर्मयोग के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है तथा इसके साथ ही आत्मा के शोधन का भी नित्य प्रति अभ्यास करना अभीष्ट है ।

आत्म शोधन का प्रयोजन कि हमारी आत्मा अर्थात् अध्यात्म धारणा असंयत न हो और हमारा दृष्टिकोण दूषित न हो जाये, अर्थात् हम कर्म-फल त्याग का मार्ग न छोड़ दें। हमारी अध्यात्म धारणा हमारे समाज और राष्ट्र के नाश का कारण न बने, हमारा धर्म अधर्म का पोषण न करे और हम अपने पंथ, मजहब को ही सर्वश्रेष्ठ न मानने लग जायें, धारणा सदैव ही समत्व पर आधारित रहे। ऐसा व्यक्ति !

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

जिसकी आत्मा शांत है, निर्भय, ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थित मन को संयत करके मुझ में चित्त लगाने वाला योगयुक्त हो मेरे परायण हुआ बैठे ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार संयतचित्त योगी आत्मा को निरन्तर कर्मयोग में लगाता हुआ मुझ में स्थित निर्वाण रूपी परम शान्ति को पा लेता है ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

न तो बहुत खाने वाले का और न. बिल्कुल न खाने वाले का तथा न बहुत सोने वाले का और न जागने वाले का ही यह योग होता है, हे अर्जुन !

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

युक्तिपूर्वक आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा

करने वाले का, तथा युक्तिपूर्वक सोने और जागने वाले का योग दुःख का नाश करने वाला होता है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

(जिसका) जब संयत किया हुआ चित्त आत्मा में ही स्थित रहता है और सब कामनाओं के प्रति तृष्णा रहित हो जाता है तब ऐसा (व्यक्ति) कहा जाता है कि युक्त है ।

यथा दीपोनिवातस्थो नेङ्गतेसोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

जिस प्रकार पवन से सुरक्षित स्थान में दीपक की ज्योति चलायमान नहीं होती, वैसी ही उपमा आत्मा के योग (अध्यात्म धारणा पर आधारित कर्मयोग) में लगे हुए योगी के संयत-चित्त की कही गई है ।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मनं पश्यन्नात्मानि तुष्यति ॥२०॥

जहाँ योग के अभ्यास से संयत किया हुआ चित्त निवृत्त हो जाता है और जहाँ आत्मा से आत्मा को ही देखता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है ।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

जिस अवस्था में इन्द्रियातीत बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त सुख है, उसका अनुभव करता है और जहाँ स्थित हुआ योगी तत्व से विचलित नहीं होता है ।

यं लब्ध्वा चापरंलाभं मन्यते नाधिक ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

जिसे पाकर योगी उससे अधिक दूसरा लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित हुआ योगी भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता ।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

उस दुःख के संयोग से वियोग का नाम योग है उसको जानना चाहिये, यह योग उत्साह और निश्चयपूर्वक अव्यग्र चित्त से करने योग्य है ।

संकल्पप्रभवान्कामांत्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।२४।।

संकल्प से उत्पन्न सम्पूर्ण कामनाओं को सब प्रकार से छोड़ कर मन से ही इन्द्रियों के समुदाय को सब ओर से रोक कर।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।२५।।

धीरे-धीरे धैर्य युक्त बुद्धि से शान्त होना चाहिये, मन को आत्मा में स्थित करके (और) कुछ भी नहीं चिन्तन करना चाहिये।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।२६।।

यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ से बाहर जाता है, उसे वहीं-वहीं से रोक कर आत्मा के ही वश में करना चाहिये।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।२७।।

शान्तचित्त रजोगुण विहीन निष्पाप, ब्रह्म (प्राण की मायातीत स्थिति) से एक रूप हुए उस योगी को निःसन्देह उत्तम सुख प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।२८।।

इस प्रकार पापों से मुक्त योगी निरन्तर आत्मा को कर्मयोग में लगाता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्म संस्पर्श के अनन्त सुख को भोगता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।२९।।

जिसकी आत्मा योगयुक्त है (ऐसा) सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को आत्मा में देखता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।३०।।

जो सम्पूर्ण भूतों में मुझे देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ में देखता है, मैं उससे अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे अदृश्य नहीं होता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।३१।।

जो एकत्व भाव में स्थित हुए सब प्राणियों में स्थित मुझ अधियज्ञ की आराधना करता है (अर्थात् धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग के लिये तत्पर रहता है) वह योगी सब प्रकार से व्यवहार करता हुआ भी मुझ में ही वर्तता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।३२।।

आत्मा की उपमा से सर्वत्र समान देखता है, जो अर्जुन ! सुख अथवा दुःख को वह योगी श्रेष्ठ माना गया है। (जिस प्रकार आत्मा जो ब्रह्म के निर्दोष और सम स्वभाव अर्थात् अध्यात्म पर आधारित है, सदैव समान रहता है, उसी प्रकार सुख अथवा दुःख में समान रहने वाला योगी श्रेष्ठ माना गया है)।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।।३३।।

हे मधुसूदन ! समत्व रूप से (सर्वत्र आत्मा के दर्शन से) यह जो योग आपके द्वारा कहा गया है, मैं मन की चंचलता के कारण इसकी स्थिर स्थिति को नहीं देखता हूँ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।३४।।

हे कृष्ण ! क्योंकि मन चंचल, इन्द्रियों और देह को मथने वाला है, बलवान है, दृढ़ है, अतः उसको वश में करना, वायु को वश में करने के समान अति कठिन मानता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।३५।।

निःसन्देह महाबाहो ! मन कठिनता से वश में होता है और चंचल है, पर कौन्तेय ! अभ्यास से और वैराग्य से वह वश में होता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।३६।।

असंयत आत्मा को योग प्राप्त होना कठिन है परन्तु संयत आत्मा,

यत्नशील के लिये उपाय करने से योग प्राप्त होना संभव है ऐसा मेरा मत है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

हे कृष्ण ! श्रद्धायुक्त, असंयमी, कर्मयोग से विचलित, योग सिद्धि को प्राप्त न होकर किस गति को प्राप्त होता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो ! क्या वह ब्रह्म पथ (मायातीत प्राण की स्थिति को प्राप्त करने के मार्ग) में भूला हुआ अप्रतिष्ठित, दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ, क्या छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! इस मेरे संशय का आप पूर्ण रूप से निराकरण करने में समर्थ हैं। क्योंकि इस संशय का निराकरण करने वाला आपके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता है।

भगवान ने अर्जुन को जो कर्मयोग का सिद्धान्त वताया, उसका तीन संक्षेप अवस्थाओं में वर्णन किया जा सकता है:—

(१) निरन्तर एक ही कर्म करते हुए कर्म में सिद्धि प्राप्त करना।
(२) उस सिद्धि अथवा कर्मफल के त्याग द्वारा लोक सेवा करना।
(३) सब को अपने समान तथा अपने को सब के समान समझना—विशिष्ट नहीं।

उपरोक्त विचारधारा के अनुसार जो कर्म में सिद्धि ही नहीं प्राप्त कर पाता, वह व्यक्ति किस गति से जाता है अथवा क्या वह नष्ट हो जाता है ? अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान उत्तर देते हैं।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

हे पार्थ ! न सिद्धि प्राप्त स्थिति में, न योग विचलित स्थिति में,

उसका दिनाश होता है। हे तात, क्योंकि कल्याणकारी कर्म करने वाला, कोई भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है।

निम्नलिखित श्लोकों का अर्थ ग्रहण करने के लिये आवश्यक है कि 'जन्म' शब्द पर विचार किया जाये। पार्थिव शरीर का जन्म और मृत्यु गीता-चिन्तन का विषय ही नहीं है। गीता के अनुसार पार्थिव शरीर भूत प्रकृति की स्थिति मात्र है। जीवित शरीर और ईश्वर का संयोग ही गीता के अनुसार जन्म है। "जितना जो कुछ भी उत्पन्न होता है, स्थावर-जंगम पदार्थ, उस सबको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ही संयोग से उत्पन्न जान, हे भरत श्रेष्ठ !" (१३-२६) इसी प्रकार –

"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते"—योगभ्रष्ट पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म लेता है, अर्थात् धनवान व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है।

"अथवा योगिनाम कुले भवति धीमताम"-- अथवा ज्ञानवान योगियों के कुल में ही जन्म लेता है, अर्थात् ज्ञानी योगियों के साथ उसका संयोग होता है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त करके बहुत वर्षों तक वहाँ रह कर योगभ्रष्ट पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है, वह अत्यन्त निःसन्देह दुर्लभ है जन्म इस प्रकार का संसार में।

इस प्रकार पुण्य कर्म, भौतिक समृद्धि, और ज्ञान सब कर्मयोग से विचलित पुरुष की गौण उपलब्धि है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

वहाँ (अर्थात् पुण्य कर्म करते हुए, पवित्र धनवानों के सम्पर्क से, अथवा ज्ञानवान योगियों के सम्पर्क में योगविचलित अवस्था में) पूर्व देह (पूर्व अवस्था के समत्व बुद्धि द्वारा समर्थित कर्मयोग की स्थिति द्वारा उत्पन्न) बुद्धि संयोग को प्राप्त करता है, और हे कुरुनन्दन ! उस बुद्धि संयोग से फिर कर्मयोग में सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।४४।।

वह विवश होकर उस पहले के अभ्यास से ही निःसन्देह खींचा जाता है। इस प्रकार कर्मयोग के प्रति जिज्ञासा रखने वाला भी शब्द ब्रह्म को पार कर जाता है।

इस प्रकार कर्मयोगी अपना कर्म त्याग कर, जीवन के भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त कर, फिर समत्व बुद्धि पर आधारित अपने कर्मयोग को अपनाता है। शब्द ब्रह्म एक रहस्यमय शब्द है। शंकराचार्य के अनुसार वेद में कहे कर्मफल तथा लोकमान्य तिलक के अनुसार काम्य कर्म कहे गये हैं। यह दोनों ही अर्थ शब्दार्थ न होकर केवल भाष्यकार का मत ही प्रकट करते हैं। ब्रह्मोपनिषद में शब्द ब्रह्म का स्पष्ट अर्थ लिखा है—

"यस्मिन्स लीयते शब्दसतत् परंब्रह्म गीयते ।"

शब्द जिसमें लय होता है, उसे परब्रह्म कहा गया है (ब्र० उ० आचार्य श्रीराम शर्मा, ब्रह्म विद्या खण्ड श्लोक १३, पृष्ठ १६)

इस प्रकार शब्द ब्रह्म का अर्थ ब्रह्म (प्राण) की ऐसी स्थिति जिसमें शब्द का प्रभाव समाप्त हो जाता है और (ब्रह्म का) अतिवर्तन अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति।

इस प्रकार योग विचलित योग का जिज्ञासु पुनः योग में स्थित हो, ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।४५।।

प्रयत्नपूर्वक अभ्यासरत कर्मयोगी निष्पाप होकर अनेक जन्मों (बार-म्बार क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोग की ओर अग्रसर होकर) के अनन्तर सिद्ध होकर फिर परम गति को प्राप्त करता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।४६।।

हे अर्जुन! तपस्वियों से (कर्म) योगी अधिक हैं, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है। सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ माना गया है। इसलिये योगी बनो।

यह गीता का कर्मयोग के पक्ष में निश्चयात्मक उद्‌घोष है, अधर्म

नाश के लिये अनेक प्रकार के यज्ञों में से ज्ञानयज्ञ भी एक यज्ञ है। ज्ञान क्या है? इसके विषय में भगवान ने कहा कि—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।४।३५)

"जिस को जान कर फिर नहीं मोह में इस प्रकार फँसोगे पाण्डव, जिससे सब प्राणियों को देखेगा आत्म तत्व में स्थित और फिर मुझ में। इस अध्याय में २६, ३०, ३१ में भी इसे ही स्पष्ट किया गया है। भगवान ने जब इस ज्ञान का विषय आरम्भ किया, तब ५वें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने शंका व्यक्त की कि "यह तो कभी संन्यास की प्रशंसा की गई, कभी कर्मयोग की, इनमें से जो एक श्रेष्ठ हो वह बात कही जाय।"

इस श्लोक द्वारा भगवान ने निश्चयपूर्वक कर्मयोगी को तपस्वी, ज्ञानी और सकाम कर्म करने वाले व्यक्तियों में श्रेष्ठ कह कर सब प्रकार की शंका का निराकरण कर दिया है। इसके साथ ही, नित्य प्रति आत्म-संयम (अध्यात्म धारणा के संयम) के अभ्यास के लिये भी प्रेरणा दी जो कि कर्मयोग में सहायक हो सके। जिस प्रकार नित्य प्रति कर्मफल त्याग द्वारा ही कर्मयोग संपादित हो सकता है, उसी प्रकार नित्य प्रति के अभ्यास द्वारा ही आत्मा का संयम और शुद्धि सम्भव है। आत्मा के अनुशासन के बिना कर्मयोग में स्थिर रहना असंभव है। जिस प्रकार भौतिक सुख-सुविधा, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को कर्मयोग से विचलित करते हैं, उसी प्रकार आत्म-ज्ञान का अतिरेक भी मनुष्य को कर्त्तव्य-पथ से च्युत कर देता है। अन्त में गीता के अनुसार आत्मा (अध्यात्म धारण) सिद्धान्त है और कर्मयोग उसका व्यवहारिक रूप है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।४७।।

सम्पूर्ण योगियों में भी मुझे वह योगी सर्वश्रेष्ठ मान्य है जो श्रद्धावान् मुझ में लगे हुए अन्तरात्मा से मुझे भजता है।

इस श्लोक द्वारा गीता-भक्त को आत्म-संयमी कर्मफल त्यागी कर्म-योगी से श्रेष्ठ प्रतिपादित करती है। भक्त की परिभाषा जानने से पहले भक्ति की परिभाषा जानना अनिवार्य है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भक्ति की परिभाषा अनेक प्रकार से की है। श्री दीनानाथ भार्गव दिनेश ने गीता-ज्ञान में इसका सारगर्भित संकलन किया है।

"पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः।"

पाराशर के मत के अनुसार भगवान की पूजा एवम् वन्दना में अनुराग होना भक्ति है।

"कथा दिष्विति गर्ग"

गर्गाचार्य के कथनानुसार भगवान की कथा-कीर्तन, वार्ता, चर्चा आदि में अनुराग होना भक्ति है।

"आत्म रत्यविरोधनेति शाण्डिल्य"

शाण्डिल्य के अनुसार आत्मा के अनुकूल विषयों में प्रीति होना भक्ति है।

"नारदस्तु तदर्पि ताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति।"

देवर्षि नारद के अनुसार अपने सब कर्मों को भगवान के अर्पण करना और भगवान का थोड़ा भी विस्मरण होने से व्याकुल होना भक्ति है।

गोस्वामी तुलसीदास जी की नवधा भक्ति प्रसिद्ध है–

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगत मम गुन जन करइ कपट तज गान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकाशा।।
छट दम सील विरति बहु करमा। निरतनिरंतर सज्जन धरमा।
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोतें संत अधिक कर लेखा।।
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहीं देखइ पर दोषा।।
नवम सरल सब सम छलहीना। मम् भरोस हिय हरष न दीना।।

उपरोक्त परिभाषायें अपने-आप में पूर्ण हैं। गीता के सातवें से बारहवें अध्याय तक जो कि भक्ति प्रधान अध्याय कहे जाते हैं, उनमें यह भाव स्थान-स्थान पर बिखरे हुए हमें सर्वत्र मिलते हैं। किन्तु गीता में जो भक्ति का वर्णन है, वह उपरोक्त परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक है। यह सब परिभाषायें भक्ति को एक व्यक्तिगत सद्‌गुण ही प्रतिपादित करती हैं जबकि गीता में भक्ति के साथ समाज और उसकी सब समस्याओं को समाविष्ट किया गया है।

यदि हम इन छः अध्यायों के नामों पर ही विचार करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है।

सातवां अध्याय "ज्ञानविज्ञान योग", ज्ञान विज्ञान में विश्वास भक्ति का पहला अंग है। कोई भी समाज ज्ञान विज्ञान, जिस काल में जैसा भी हो उसकी अवहेलना करके जीवित नहीं रह सकता। ज्ञान विज्ञान भक्ति का पहला पद।

आठवाँ अध्याय "अक्षर ब्रह्म योग", यह अध्याय जरा-मरण से मुक्ति के अभिलाषी महापुरुषों के आचरण का योग है। महापुरुषों का जीवन भक्ति का दूसरा पद।

नवें अध्याय में विश्वरूप शब्द का पहली बार प्रयोग किया गया। यह राज विद्या रहस्य योग है, जिसमें पापी-दुराचारी तर जाते हैं। पर तीनों धर्मों के प्रतिपादक स्वर्गलोक से गिरकर मृत्यु मय संसार में आ जाते हैं। इस प्रकार भक्ति क्रान्ति की जननी है, यह इस अध्याय का मूल भाव है। क्रान्ति भक्ति का तीसरा पद।

दसवां अध्याय "विभूति योग' है। इसके अनुसार अपने देश के महापुरुषों, नदियों, पहाड़ों और पशु-पक्षियों के प्रति श्रद्धा रखना भक्ति का चौथा पद।

ग्यारहवाँ अध्याय विश्वरूप का वर्णन है। विश्व का वास्तविक रूप संघर्ष है। संघर्ष में श्रद्धा रखना भक्ति का पाँचवां पद है।

बारहवाँ अध्याय आराधना का आधार निश्चित करते हुए सभी उपासना-पद्धतियों को एक समान समझने का मार्ग प्रशस्त करता है। यह भक्ति का छठा पद है।

इस प्रकार गीता में भक्ति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जिस प्रकार मनुष्य का जीवन बिना कर्म के असंभव है, उसी प्रकार बिना भक्ति के समाज जीवित नहीं रह सकता। गीता में भक्ति का कोशार्थ अनुराग, श्रद्धा, सम्मान, सेवा ही सार्थक होता है। समाज के प्रति अनुराग, श्रद्धा एवं सम्मान का भाव तथा समाज-सेवा ही गीता के अनुसार भक्ति है।

* * *

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

मुझ से परे और किंचित मात्र भी नहीं है। सूत्र में मणियों की भांति मुझ में यह सारा जगत गुँथा हुआ है।

सप्तम अध्याय

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्तमना: पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

हे पार्थ ! मेरे में आसक्त मन वाला, मेरा आश्रय लिये हुए, कर्मयोग में लगा हुआ, जिस प्रकार मुझे, संशय हीन हो पूर्णतया जानेगा, वह सुन।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

मैं विज्ञान सहित तेरे लिये इस ज्ञान को पूर्णरूप से कहूँगा, जिसको जान कर इस संसार में और फिर कुछ जानने योग्य नहीं बचेगा। (जो कुछ भी कहा जायगा वह विज्ञान के तथ्यों पर आधारित होगा। ईश्वर प्रकृति पुरुष पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार होगा और अधूरा चिन्तन भी नहीं होगा)।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में कोई यत्न करता है सिद्धि के लिये। उन यत्नशील सिद्ध पुरुषों में कोई ही मेरे को यथावत् जानता है। (ईश्वर क्या है ? यह कोई ही जानता है और अपने को भगवान, महात्मा, संत कहने वाले सैकड़ों हैं)।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी, इस आठ प्रकार से विभाजित यह मेरी प्रकृति है।

पाश्चात्य जीव विज्ञान प्रकृति को प्राणवान और प्राणहीन दो भागों में बाँटता है। सारी वनस्पतियाँ और प्राणी प्राणवान माने जाते हैं तथा शेष सब प्राणहीन कहे जाते हैं। मन, बुद्धि और अहंकार जीवधारियों के गुण होने के कारण उन्हीं के अभिन्न भाग मान जाते हैं। गीता का चिन्तन इससे थोड़ा भिन्न है, गीता के अनुसार प्राणहीन प्रकृति, अपरा प्रकृति तथा प्राण परा प्रकृति मानी गई है किन्तु, गीता मन, बुद्धि और अहँकार को भी प्राणहीन हो मानता है। गीता के अनुसार जिनका अहंकार नष्ट हो जाता है, जिन्हें अपने अस्तित्व का बोध ही नहीं रहता, ऐसे व्यक्ति भी

जीवित रहते हैं। बुद्धिहीन पागल भी जीवित रहते हैं। और जिनका मन मर जाता है, वे भी जीवित रहते हैं इसलिये मन, बुद्धि, अहंकार, प्राणियों के गुण होते हुए भी अपरा, प्राणहीन, प्रकृति के ही भाग हैं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीव भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

हे महाबाहो ! यह तो अपरा प्रकृति है। इससे अन्य मेरी परा प्रकृति को जानो जो प्राण रूपा है, जिससे जगत धारण किया जाता है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

ऐसा जानो कि इन दोनों प्रकृतियों से सम्पूर्ण प्राणी हैं (सब प्राणियों का अस्तित्व इन दोनों प्रकृतियों पर ही आधारित है)। मैं (अधियज्ञ) अखिल जगत का उत्पत्ति तथा प्रलय हूँ। (सब प्राणी इन दोनों प्रकृतियों द्वारा धारण किये हुए हैं। यह केवल उनका अस्तित्व मात्र ही है। वास्तव में प्राणियों की उत्पत्ति तो अधियज्ञ के संयोग से ही होती है और अधियज्ञ अर्थात् धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का भाव मिटते ही सब प्राणी भोगवाद में लीन होकर नष्ट हो जाते हैं। अध्याय १३/२६ में इसी भाव को स्पष्ट किया गया है—"जितना जो कुछ भी उत्पन्न होता है सामर्थ्यवान पदार्थ स्थावर-जङ्गम उस सबको क्षेत्र (जीवित शरीर) क्षेत्रज्ञ (ईश्वर) के संयोग से ही उत्पन्न जान—अतः गीता के अनुसार शरीर का ईश्वर से संयोग—जन्म, और शरीर का ईश्वर से वियोग—मृत्यु। पार्थिव शरीर, परा अपरा प्रकृति पर आधारित एक स्थिति मात्र है।"

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

मुझ से परे और किंचित मात्र भी नहीं है। सूत्र में मणियों को भाँति मुझ में यह सारा जगत गुँथा हुआ है।

(आधुनिक काल में अणु विस्फोट द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि पदार्थ मात्र ऊर्जा ही है (Matter is nothing but energy) उपनिषद्कार सृष्टि रचना का रहस्य खोलते हुए लिखते हैं कि मृत्यु में से उत्पन्न आकाश शर शक्ति अर्थात् ऊर्जा पृथ्वी तत्व में परिणत हुई। फिर वह पृथ्वी तत्व तेजोरस में बदल गया, इसी महान् परिवर्तन को मृत्यु में से उत्पन्न तेजोरस की उत्पत्ति को गीता अधियज्ञ अथवा सर्वोपरि यज्ञ कहती है। यह प्राणी-मात्र में विद्यमान है। सृष्टि का सारा क्रम इसी के आधीन है। यही

गीता का 'मैं' है, और यह कण-कण में व्याप्त है। आज भी अनेकों सूर्य-चन्द्र प्रतिपल इसी प्रकार निर्मित हो रहे हैं। इससे परे कुछ भी नहीं है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

हे कौन्तेय ! जल में रस, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओम् हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषार्थ हूँ।

इस अनन्त सृष्टि में जहाँ तक आज का विज्ञान जानता है, कहीं भी प्राण अथवा परा प्रकृति नहीं है। अन्य ग्रहों और नक्षत्रों में आकाश की शर शक्ति मात्र तेजोरस में ही परिणत होकर रह गई। किन्तु पृथ्वी पर प्राण का विकास होने के कारण प्रत्येक महाभूत में निम्नलिखित परिवर्तन हुए, जिनका आधार अधियज्ञ ही है। (१) इसी परा प्रकृति के हेतु सृष्टि के, आदि और सर्वोपरि यज्ञ जल में रस रूप हो गया। (२) सूर्य की धधकती आग और चन्द्रमा की ज्योति, एक सहज प्रकाश के रूप में उपलब्ध हुई। (३) यह अनन्त विश्व शब्दहीन है, कारण कि वहाँ वायुमण्डल ही नहीं है। शब्द वहन करने में सक्षम वायुमण्डल इसी पृथ्वी पर ही है। (४) किसी भी ज्ञान की सार्थकता उसकी स्वीकृति में है। कोई भी ज्ञान जब तक सन्दिग्ध है अथवा 'स्यादवाद' की अवस्था में है, तब तक वह ज्ञान नहीं कहा जा सकता। 'ओम्' (अर्थात् श्रद्धापूर्वक स्वीकृत होने से) द्वारा ही वैदिक ज्ञान सार्थक हुआ है। (५) पुरुषों में पुरुषार्थ—प्राणोत्सर्ग का ही अंशमात्र है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पवित्र गंध पृथ्वी में, तेज हूँ और अग्नि में, जीवन सब प्राणियों में और तप हूँ तपस्वियों में।

सम्पूर्ण सुगन्धि पृथ्वी में से ही उत्पन्न होती है। जाज्वल्यमान अग्नि का तेज, सब प्राणियों का जीवन, तपियों की तपस्या, सब अधियज्ञ का अंश मात्र ही है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

मुझे ही सब भूतों का सनातन बीज जान पार्थ ! बुद्धि बुद्धिमानों की हूँ। तेज तेजस्वियों का हूँ, मैं।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

और बल बलवानों का मैं काम (तथा) राग से रहित । प्राणियों में धर्म के अविरुद्ध, काम हूँ, भरत श्रेष्ठ !

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

और भी जो सात्विक गुणों से उत्पन्न होने वाले, जो रजोगुण से तथा तमोगुण से होने वाले भाव हैं, इन सबको ऐसा जानो कि वे मुझसे ही हैं, किन्तु मैं उनमें और वे मेरे में नहीं हैं ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

तीन गुणमय भावों से समस्त यह जगत मोहित हो रहा है । (तथा) नहीं जानता मुझ परम अविनाशी को (जो तीनों गुणों से अतीत हैं) ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

दैवी निःसंदेह यह गुणमयी मेरी माया दुस्तर है । मेरी ही शरण में जो आते हैं (वे) इस माया को पार कर जाते हैं ।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

नहीं मुझको; भजते खोटे कर्म करने वाले मूढ़ नराधम, माया द्वारा हरे हुए, ज्ञान वाले, आसुरी भाव के आश्रित, उपरोक्त चार श्लोकों में अस्तित्व-रक्षिणी माया और उसके प्रभाव का वर्णन किया गया है ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

चार प्रकार के भजते हैं मुझे जन, उत्तम कर्म करने वाले, अर्जुन ! दुखी जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी; हे भरत श्रेष्ठ ! (इस श्लोक द्वारा गीता ने प्रत्येक व्यक्ति को आस्तिक घोषित कर दिया है । प्रत्येक व्यक्ति जिज्ञासु अर्थात् कुछ जानने की इच्छा रखता है । ज्ञानी अर्थात् कुछ न कुछ ज्ञान में स्थित रहता है । दुःखी,—प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ न कुछ दुःख भी होता है—अर्थार्थी—जीवन यापन के लिये प्रत्येक व्यक्ति को

धन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार जिज्ञासा शांति के, ज्ञान प्राप्ति के। दुःख से मुक्ति पाने के उपाय और जीवन-यापन के लिये धन प्राप्त करना भक्ति के ही अंग हैं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उनमें ज्ञानी सदैव युक्त एक भक्ति वाला विशेष है, प्रिय क्योंकि ज्ञानी को अत्यन्त हूँ मैं और वह मुझे प्रिय है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

उदार हैं यह सब ही (उदारता सब प्रकार के भक्तों का सामान्य लक्षण है। कृपणता और भक्ति एक साथ नहीं निभ सकती) परन्तु ज्ञानी मेरा आत्मा है। (ऐसा) मेरा मत है। (क्योंकि) स्थित है वह युक्तात्मा मुझ में सर्वोत्तम गति रूप। ज्ञान की परिभाषा गीता के अनुसार—

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।

"जिस ज्ञान के अनुसार तू सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में और फिर मुझ में देखेगा"। (४।३५) इस ज्ञान में जो स्थित है, वह ज्ञानी भक्त है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मों के अन्त में (अनेक बार ईश्वर भाव से अभिभूत हो) सब कुछ वासुदेव ही हैं। (ऐसा) जानकर ज्ञानवान, मुझे भजता है। ऐसा वह महात्मा दुर्लभ है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

कामनाओं से उन, उन, हतज्ञान हो भजते हैं, अन्य देवताओं को, उस उस नियम को धारण करके अपने स्वभाव से नियत किये हुए।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो-जो जिस-जिस देव विग्रह को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस की अचल श्रद्धा मैं उसी में करता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।।२२।।

वह उस श्रद्धा से युक्त हुआ उस देवता की आराधना करना चाहता है और निःसन्देह उस देवता से ही मेरे द्वारा विधान की हुई, उन कामनाओं को पाता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।२३।।

नाशवान किन्तु फल उनका वह (है)। अल्प बुद्धि वालों का; देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं। मेरे भक्त मिलते हैं मेरे को ही।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय. ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।२४।।

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अविनाशी सर्वोत्तम परम भाव को न जानते हुए मेरे अव्यक्त को व्यक्त भाव को प्राप्त हुआ मान लेते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।२५।।

अपनी योग माया से ढका हुआ, मैं सब के लिये प्रकाशित नहीं होता। यह मोहग्रस्त जन-समुदाय मेरे को जन्म रहित अविनाशी नहीं जानता।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।२६।।

हे अर्जुन ! जो पहले हो चुके हैं, और इस समय हैं तथा आगे होंगे उन सब प्राणियों का मैं जानता हूँ। परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

तेरहवें अध्याय में भगवान इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

इदम् शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१३।१
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत । १३।२

हे कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है इसको जो जानता है, उसको तत्व के जानने वाले ज्ञानीजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं। हे भारत ! सब क्षेत्रों में मुझे ही क्षेत्रज्ञ जान। इस प्रकार से जो प्राणी भूतकाल में हो चुके हैं उनका भी ज्ञान, शरीर में स्थित होने के कारण क्षेत्रज्ञ को है। जो प्राणी वर्तमान में हैं उनमें भी क्षेत्रज्ञ हैं और भविष्य में होंगे।

उनमें भी क्षेत्रज्ञ होगा, और इन सब प्राणियों का ज्ञान भी उसे होगा।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

इच्छा और द्वेष से उठे हुए द्वन्द्व-मोह से, हे भरतवंशी ! सब प्राणी मोहित होकर संसार (भोगवाद) में अज्ञान में फँस जाते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

परन्तु जिन पुण्यशील मनुष्यों का पाप नष्ट हो गया है; वे द्वन्द्व-मोह से मुक्त हुए दृढ़व्रती पुरुष मुझे भजते हैं।

इसके उपरान्त गीता उन व्यक्तियों का वर्णन करती है जो ईश्वर का आश्रय लेकर वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्ति पाने के लिये यत्न करते हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है कि वृद्धावस्था और मृत्यु जीवन के अटल तथ्य हैं। इनसे मुक्त होना असंभव है, किन्तु यदि इतिहास का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि महापुरुषों का जीवन और कार्य महत्वपूर्ण होता है। अनन्तकाल तक वे अपने कार्य और विचारों के कारण ही याद किये जाते हैं। उनकी मृत्यु और वृद्धावस्था वस्तुतः अस्तित्वहीन ही होती है। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि महापुरुषों का स्मरण उनकी मृत्यु और वृद्धावस्था द्वारा नहीं; उनके कार्यों द्वारा किया जाता है।

जिस मार्ग से महापुरुष प्रयाण करते हैं, वह गीता का 'जरा मरण मोक्षाय' का मार्ग है। यह भक्ति का दूसरा पद है। इस मार्ग पर चलने वालों के लिये गीता अब कुछ पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख करती है (इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या भूमिका में की गई है, यही शब्द गीता-चिन्तन का आधार है)।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

बुढ़ापे और मृत्यु से मुक्त होने के लिये जो मेरे आश्रित होकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जान लेते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जो अधिभूत और अधिदैव के सहित तथा अधियज्ञ के सहित मेरे को जानते हैं, वे युक्त चित्त वाले प्रयाण काल में भी मेरे को ही जानते हैं ।

* * *

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ८।१६

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक सारे लोक पुनरावृत्तिशील हैं। किन्तु मेरे को प्राप्त होकर, कौन्तेय, पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ ८।१६
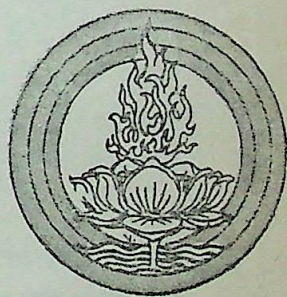
अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।।१।।

क्या है वह ब्रह्म ? क्या है अध्यात्म ? क्या है कर्म ? हे पुरुषोत्तम अधिभूत क्या कहा गया है ? अधिदैव किसे कहा जाता है ?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।।२।।

अधियज्ञ कैसे है ? कौन है ? यहाँ इस शरीर में, हे मधुसूदन ! प्रयाण काल में और कैसे जाने जाते हैं आप, संयत आत्मा वाले पुरुषों द्वारा ।

श्री भगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।३।।

परम अविनाशी ब्रह्म (प्राण-परा प्रकृति) है। (ब्रह्म का) स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है। भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला त्याग कर्म कहा जाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।४।।

सर्वोपरि तत्व, क्षरण भाव (पंच महाभूतों से भी महान् ऐसा सर्वोपरि तत्व क्षरण शीलता) और पुरुष (व्यक्ति स्वयं ही) अधिदेव है (सर्वोपरि देवता है) इस शरीर में मैं ही अधियज्ञ (सर्वोपरि यज्ञ अर्थात् धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग) हूँ ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वाकलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।५।।

अन्त समय में (अपने जीवन के विषय में अन्तिम निर्णय करने की अनमोल घड़ी में; जिस घड़ी में गौतम बुद्ध ने ग्रह त्याग किया, जिस घड़ी में समर्थ रामदास ने विवाह मण्डप का त्याग किया जिस घड़ी में महर्षि दयानन्द ने ग्रह त्याग किया) जो मेरा ही (अधियज्ञ का ही) स्मरण करता हुआ (अन्तिम निर्णय करने के समय धर्म के लिये प्राणोत्सर्ग करने के लिये जो तत्पर रहता है), शरीर को त्याग कर (शरीर के प्रति आसक्ति को

त्याग कर) जाता है, वह मेरे भाव को (ईश्वर भाव को) प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमे वैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।६।।

जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ प्रयाण काल में त्यागता है शरीर को (शरीर के प्रति आसक्ति को) उस उस ही भाव को प्राप्त होता है, कौन्तेय सदा उस ही भाव में लगा हुआ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

इसलिये सब काल में मेरा ही स्मरण कर और युद्ध कर (हृदय की गति रुकने की, सांस रुकने की प्रतीक्षा मत कर) मुझ में अर्पित मन, बुद्धि वाला मेरे को ही प्राप्त होता है। निःसन्देह !

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८।।

अभ्यास योग से युक्त, दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष, परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है, पार्थ !

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।९।।

कवि (क्रान्तदर्शी-सर्वज्ञ) अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबका पोषण करने वाला, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्य के समान, अन्धकार से परे, जो उसका स्मरण करता है।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।१०।।

प्रयाण काल में निश्चल मन से, भक्ति युक्त योग बल से भृकुटि के मध्य में प्राणों को स्थापित करके वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।११।।

जिसे 'अक्षर' वेदवेत्ता कहते हैं। प्रवेश करते हैं जिसमें वीतराग यतिजन। जिसकी इच्छा वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस पद को मैं तुझसे संक्षेप में कहूँगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

सब इन्द्रियों का संयम कर मन को हृदय में स्थित करके अध्यात्म धारणा से युक्त प्राण को सर्वोपरि स्थित कर योग धारणा में लगा हुआ।

उपरोक्त श्लोक तथा श्लोक १० द्वारा एक भ्रम उत्पन्न होता है कि गीता द्वारा यहाँ पर पातंजल योग की किसी क्रिया विशेष का उल्लेख है। जिसके द्वारा अपने प्राणों को अन्तकाल अर्थात् मृत्यु के समय भृकुटि के मध्य में स्थापित करके वह पुरुष दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है। ८।१०।

मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्— "अपने प्राणों को मस्तक में स्थापित करके योग धारणा में लगा हुआ।"

उपरोक्त अर्थ पातंजल योग के अनुसार उचित हो सकते हैं किन्तु यह गीता चितन्न से नितान्त भिन्न है। पार्थिव शरीर का जन्म और मृत्यु गीता चिन्तन का विषय ही नहीं है। मृत्यु के समय प्राण मस्तक में रहे अथवा शरीर के अन्य किसी भाग में इस से गीता को कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके साथ ही जब 'आत्मनः प्राण' का अर्थ अपना प्राण किया जाता है तो हम आत्मा को शरीर स्वीकार करते है जो कि नितान्त असंगत अर्थ है। मृत्यु के उपरान्त जो उपलब्धि होती है, गीता की विचारधारा इससे भिन्न है। गीता का योग कर्म योग है। पातंजल योग नहीं है। 'आत्मनः प्राण' (अध्यात्म धारणा से युक्त प्राण) को सर्वोपरि मानकर जीवन के विषय में अन्तिम निर्णय के समय, तथा प्राण को भृकुटि में स्थित करना; अर्थात् प्राण की पूर्ण शक्ति से विचार करते हुए कर्मयोग में अग्रसर होना, यह गीता की विचारधारा है। गीता का योग कर्मों में "यथायोग्य चेष्टा करने वाले व्यक्ति का योग है (युक्त चेष्टस्थकर्मसु) मृत्यु के समय का यह योग नहीं है।"

लोकमान्य तिलक के अनुसार "प्राणी मात्र में एक ही आत्मा है। यह दृष्टि सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्गों में एक-सी है। ऐसे ही पातञ्जल योग में भी समाधि लगाकर परमेश्वर की पहचान हो जाने पर यही साम्यावस्था प्राप्त होती है। परन्तु सांख्य और पातञ्जल योगी दोनों को ही सब कर्मों का त्याग इष्ट है। अतः वे व्यवहार में इस साम्य बुद्धि के उपयोग करने का अवसर ही नहीं आने देते और गीता का कर्मयोगी ऐसा न कर अध्यात्म ज्ञान से प्राप्त हुई साम्य-बुद्धि का व्यवहार में भी उपयोग करके जगत में सभी काम लोक-संग्रह के लिये करता है"।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

'ओम्' (श्रद्धापूर्वक स्वीकार है) एक अविनाशी ब्रह्म यह उच्चारण करता हुआ (जो मनुष्य ब्रह्म को अर्थात् प्राण को अपने समस्त सुख-दुःख, ऊँच-नीच सहित स्वीकार करता है, जो जीवन से मुँह नहीं मोड़ता है) मेरा स्मरण करता हुआ जो प्रयाण करता है शरीर को त्याग कर (शरीर के प्रति आसक्ति त्याग कर) वह परम गति को प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

अनन्य चित्त से जो नित्य मेरा स्मरण करता है, उसको मैं सुलभ हो जाता हूँ, पार्थ ! सदा युक्त रहने वाले योगी को ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मेरे को पाकर पुनर्जन्म, जो दुःख का घर और नाशवान है, नहीं पाते महात्मा, जो सिद्धि को परम, प्राप्त हुए हैं ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक (अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति से पूर्व की सब अवस्था) सारे लोक पुनरावृत्तिशील हैं। किन्तु मेरे को प्राप्त होकर (ईश्वर भाव अधियज्ञ अथवा बलिदान से अभिभूत होकर) पुनर्जन्म नहीं होता है ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

सहस्र युग तक ब्रह्मा का दिन, सहस्र युग तक ब्रह्मा की रात को जो जानते हैं वे ही दिन और रात के जानने वाले हैं ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

अव्यक्त से सब व्यक्त प्रकट होते हैं दिन आने पर। रात्रि आने पर फिर लीन हो जाते हैं, उस ही अव्यक्त कहे जाने वाले में ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

भूतों का समुदाय वह ही यह उत्पन्न हो होकर विलीन हो जाता है रात्रि आने पर, विवश होकर, पार्थ ! उत्पन्न होता है दिन होने पर ।

'भूतग्राम' प्राणियों के समुदाय अर्थात् जातियाँ बारम्बार उठती हैं और मिटती हैं।

इतिहास में यह क्रम, बार-बार दोहराया जाता है। शिवाजी के प्रयास से मराठा जाति का और गुरु नानक तथा गुरु गोविन्दसिंह के प्रयास से सिख जाति का उद्भव हुआ। इनका वर्चस्व भी स्थापित हुआ, किन्तु १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में यह जातियाँ फिर अव्यक्त अवस्था को प्राप्त हुईं। किन्तु इस उठने और गिरने से भी श्रेष्ठ;

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परे उस अव्यक्त से, परन्तु भाव दूसरा, अव्यक्त से अव्यक्त सनातन जो यह सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। (जातियों के व्यक्तियों के उत्थान पतन से भी जो श्रेष्ठ है वह)।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

अव्यक्त अक्षर कहा गया है उसको परम गति कहते हैं, जिसे पाकर नहीं लौट कर आते, वह मेरा परम धाम है। ब्रह्म अथवा परा प्रकृति ईश्वर का ही अंश है "ममैवांशो जीवलोके जीव भूत; सनातनः" १५।७। उस मायातीत अव्याकृत प्राण को प्राप्त कर पुनरावृत्ति नहीं होती है। उपनिषद चिन्तन के अनुसार भी "ते तेषु ब्रह्म लोकेषु पराः परावतो, वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।" बृहदारण्यक ६।२।१५।

"ब्रह्मलोक तक पहुँचा हुआ पुनर्जन्म पाता है, ब्रह्म में पहुँचने वाला नहीं।" इस प्रकार यह श्लोक, श्लोक १६ का पूरक है कोई विरोधी भाव प्रतिपादित नहीं किया गया है। 'ब्राह्मी स्थिति' को प्राप्त अथवा 'ब्रह्म भूत' व्यक्ति अपने पथ से विचलित नहीं होता है। ब्रह्म प्राप्ति से पूर्व की सब अवस्थायें पुनरावृत्ति शील हैं, ब्रह्म प्राप्ति के उपरान्त पुनरावृत्ति नहीं होती है।

पुरुष स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ! वह पर पुरुष किन्तु अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है जिसके भीतर सब भूत प्राणी हैं तथा जिससे सत्र यह जगत परिपूर्ण है।

यह कर्म, ब्रह्म प्राप्ति, भक्ति तथा उसके द्वारा ईश्वरत्व की प्राप्ति गीता की मूल विचारधारा का ही क्रम है, यही वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्ति पाने का मार्ग है, किन्तु यह सबके द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता।

इस मार्ग में भी कुछ व्यक्ति सफल होते हैं, कुछ असफल होते हैं। यह कैसे और क्यों होता है ?

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

जिस काल में प्रयाण किये हुए योगी (१) पुनरावृत्ति को नहीं पाते और (२) पुनरावृत्ति को पाते हैं उस काल को भी मैं कहूँगा, हे भरत श्रेष्ठ !

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, ६ मास उत्तरायण के उस काल में जाते हुए ब्रह्म वेत्ता जन, ब्रह्म को पाते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धुआँ, रात्रि तथा कृष्ण पक्ष, छः मास दक्षिणायन के उसमें योगो चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर लौट आता है।

प्रयाण की वेला में, अन्तिम निर्णय की घड़ी में, जिनके मस्तिष्क में किसी भी प्रकार का भ्रम, सन्देह अथवा अज्ञान नहीं होता वे लोग ध्येय मार्ग पर निरन्तर वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्ति पाने के लिये अग्रसर होते रहते हैं। इसके विपरीत जिनके मन में सन्देह, भ्रम अथवा अज्ञान होता है, वे चन्द्रमा के समान कुछ समय तक प्रकाश देकर फिर भोगवाद की ओर लौट आते हैं।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

शुक्ल और कृष्ण ये दोनों निःसन्देह जगत के शाश्वत मार्ग माने गये हैं। एक के द्वारा लौटकर न आने वाली वृत्ति को (व्यक्ति) प्राप्त होता है। दूसरे से लौट आता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

नहीं इन दोनों मार्गों को पार्थ जानता हुआ योगी मोहित होता कोई भी। इसलिये सब काल में योग युत हो, अर्जुन !

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सवमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

वेदों, यज्ञों, तपों और दानों के जो पुण्य फल कहे गये हैं। पार कर

जाता है योगी उन सबको, इस (ज्ञान) को जानकर और आदि परम पद को प्राप्त होता है ।

यह गीता का आठवाँ अध्याय है। इसे 'अक्षर ब्रह्म योग' कहा जाता है। यह अविनाशी ब्रह्म अर्थात् प्राण का योग है। यह उन लोगों का योग है, जो वृद्धावस्था और मृत्यु से मोक्ष पाने के लिये यत्न करते हैं अर्थात् यह इतिहास में गौरवान्वित महापुरुषों का योग है। जो आज भी अपने कर्मों द्वारा जीवित हैं। जिन महानुभावों ने ईश्वरत्व प्राप्त किया उन ने इसी मार्ग का अनुसरण किया !

इस अध्याय में कुछ विशेष शब्दों का, वाक्यों का प्रयोग किया गया है, जो रहस्यमय प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि इतिहास का अध्ययन करें, महापुरुषों के जीवन का अध्ययन करें तो उन वाक्यों का, शब्दों का अर्थ सरलता से हृदयंगम हो जाता है। इतिहास में एक ऐसा भी महापुरुष विद्यमान है, जिसके जीवन पर यह अध्याय पूर्णतया अंकित है।

पुंछ का क्षत्रिय लक्ष्मणसिंह एक दिन शिकार खेल रहा था। सहसा एक मृगी को तीर लगा और उसके गर्भ से गिर कर गर्भस्थ भ्रूण तड़फ-तड़फ कर मर गये। हिरणी ने भी प्राण त्याग दिये।

क्षत्रिय लक्ष्मणसिंह को घोर वैराग्य उत्पन्न हुआ; शस्त्र त्याग कर वैरागी माधौदास बना और नर्मदा के तट पर जाकर तपस्या करने लगा। अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं और दूर-दूर तक उसकी ख्याति फैल गई।

किन्तु पंजाब की परिस्थितियाँ इसी काल खण्ड में निरन्तर बदल रहीं थीं। प्रातः स्मरणीय गुरु गोविन्दसिंहजी मुगल सेनाओं द्वारा निरन्तर पराजित हो रहे थे। एक के बाद दूसरा रणक्षेत्र उनके हाथ से निकलता गया। दो सपूतों ने युद्ध क्षेत्र में वीर गति प्राप्त की। दो छोटे कुमारों को सरहिन्द के सूबेदार ने जिन्दा दीवार में चुनवा दिया।

इन विषम परिस्थितियों में श्री गुरु महाराज ने पंजाब छोड़ दिया और दक्षिण की ओर प्रयाण किया। मार्ग में नर्मदा के तट पर वैरागी माधौदास से भेंट हुई। गुरु महाराज ने उसे समझाया कि आज समय क्षात्र-धर्म को ग्रहण करने का है, वैराग्य का नहीं। उनसे प्रभावित होकर वैरागी ने पुनः शस्त्र धारण किया और "बन्दा वैरागी" नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वैरागी लौटकर पंजाब आया, गुरु के बेटों के वध का बदला लिया और ऐसी विद्रोह की ज्वाला जलाई कि तत्कालीन मुगल साम्राज्य की

जड़े हिल गईं। उसी समय मुगल सम्राट ने चाल खेली और गुरु महाराज की धर्मपत्नियों से बन्दा के विरुद्ध आदेश निकलवा दिया। और बन्दा जब लाहौर लेने की स्थिति में था तभी इस फूट के कारण उसे भाग कर पहाड़ी किले में शरण लेनी पड़ी। बन्दा मुगल सेना द्वारा घेर लिया गया और अपने सात सौ साथियों सहित बन्दी बना कर दिल्ली लाया गया।

उसके किसी साथी ने इस्लाम कबूल नहीं किया। उसके सामने ही उसके लड़के को काट कर फेंक दिया गया। १६ जून, १७१६ को घोर यातनायें देकर उसका वध कर दिया गया।

आठवें अध्याय के सन्दर्भ में, लक्ष्मणसिंह से वैरागी माधौदास बनना "कृष्ण गति से प्रयाण"। गुरु गोविन्दसिंह की प्रेरणा से पुनः लौटकर शस्त्र धारणा करना; यह अपने जीवन के विषय में अन्तिम निर्णय लेने का समय बन्दा वैरागी का "अन्त काल"। उस काल से अन्तिम पराजय तक का काल, 'शुक्ल मार्ग से' प्रयाण, घोर यातनायें सहना और अडिग रहना "स्मरन मुक्त्वा कलेवरम्" अर्थात् शरीर के प्रति आसक्ति त्याग की स्थिति। अपने पुत्र का और सब साथियों का वध, धर्म की स्थापना के लिये किये गये सब प्रयत्नों की विफलता के क्षण में उसके प्राणोत्सर्ग के समय ही गीता का यह श्लोक ध्वनित हो उठा—

'आ ब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।' ८।१६

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक सारे लोक पुनरावृत्ति वाले हैं।

इसके उपरान्त जब वह दृढ़ निश्चयपूर्वक बलिदान को प्राप्त हुआ तो सारी दिशायें गूँज उठीं।

"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।"

मेरे को प्राप्त होकर (ईश्वर भाव, अधियज्ञ से बलिदान से अभिभूत होकर) कौन्तेय पुनर्जन्म नहीं होता है।

* * *

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।।१६।।

मैं क्रतु अर्थात् वैदिक यज्ञ हूँ, मैं स्मार्त यज्ञ, स्वधा मैं, मैं औषध, मंत्र मैं, और घी मैं, अग्नि मैं, हवन रूप क्रिया भी मैं हूँ ।
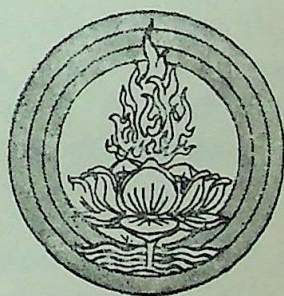
नवम् अध्याय

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

अब तुझे, दोषदृष्टि से मुक्त से, इस परम गुप्त ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा जिसे जान कर तू अशुभ से मुक्त हो जायगा।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

यह राज विद्या (सर्वश्रेष्ठ विद्या) परम गुप्त, पवित्र, उत्तम, प्रमाण और फल रूप से प्रत्यक्ष, धर्म युक्त, करने में अति सरल और अविनाशी है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

श्रद्धा विहीन पुरुष इस धर्म में, परन्तप ! मुझे न पाकर लौट आते हैं मृत्युमय संसार-चक्र में ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

यह सब जगत मेरे द्वारा अव्यक्त ब्रह्म, प्राण से परिपूर्ण है। सब प्राणी मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। (अर्जुन, मैं सूर्य की उत्पत्ति से पूर्व भी इस सृष्टि में था, जब इस जगत में कोई प्राणी नहीं था तथा पंच महाभूत भी विकसित नहीं हुए थे तब भी मैं था, जब यह सब न रहेंगे तब भी मैं रहूँगा। इसलिये मैं प्राणियों में स्थित नहीं हूँ। मैं मानवी कल्पना पर आधारित नहीं, कोई यौगिक अनुभूति भी नहीं, एक प्रत्यक्ष वैज्ञानिक वास्तविकता हूँ)।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

नहीं और मुझ में स्थित सब प्राणी, मेरे योग ऐश्वर्य को देख और मेरा आतमा जो प्राणियों को धारण करने वाला तथा प्राणियों के भावों को उत्पन्न करने वाला, होकर भी, भूतों में स्थित नहीं है।

न च मत्स्थानि भूतानि : नहीं और मुझ में स्थित सब प्राणी; सब प्राणी ईश्वर भाव में स्थित नहीं हैं।

मम आतमा - ज्ञानी भक्त—(उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी त्वातमैव मे मतम् ।७।१८ उदार हैं यह सब ही परन्तु ज्ञानी मेरा अत्मा है, ऐसा मेरा मत है) यद्यपि ईश्वर अधियज्ञ रूप में सब्र प्राणियों में विद्यमान है तथा प्रत्येक काल में ज्ञानी भक्त भी विद्यमान रहते हैं जो भूतों को अर्थात् समाज को धारण करते हैं (समाज के नैतिक मूल्यों को प्रतिपादित करते हैं) तथा भूतों में भाव उत्पन्न करने वाले होते हैं। किन्तु समस्त प्राणी इनमें स्थित नहीं रहते हैं। सब प्राणी माया में ही स्थित रहते हैं। प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने के लिये ही रात-दिन प्रयत्नशील रहता है। ज्ञानी भक्तों के उपदेश और उनका जीवन तथा शरीर में ही स्थित अधियज्ञ उसके लिये जीवन में महत्वहीन ही हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर शरीर में होते हुए भी नहीं होता, संत समुदाय (ईश्वर की आतमा) विद्यमान रहते हुए भी प्रभावहीन हो जाता है। यह ईश्वर की योगमाया का ऐश्वर्य है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे आकाश में नित्य ही स्थित है सदा ही वायु, सर्वत्र विचरने वाला महान्। वैसे ही सब भूत मेरे में स्थित हैं, ऐसा जानो।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

सब भूत प्राणी मेरी प्रकृति में लय हो जाते हैं, कल्प के अन्त में, फिर उन्हें कल्प के आदि में रच देता हूँ।

कल्प का साधारण अर्थ ब्रह्मा का दिन है। यह भाव कि मैं ईश्वर ने सृष्टि को रचा और फिर प्रलय में उसका नाश हो जायगा, सभी जातियों और धर्मों में प्रचलित है। इसमें कुछ भी 'राज गुह्यम्' राज विद्या नहीं है। गीता का कल्प इससे भिन्न है। पार्थिव शरीरों का जन्म और मृत्यु गीता का विषय ही नहीं है। स्व० श्री दीनानाथ भार्गव दिनेश कोश के अनुसार कल्प के अन्य अर्थ – कल्पो, न्यायः, पवित्र नियमः सामर्थ्यंच्च, कल्पो यज्ञ विद्या, आदि प्रतिपादित करते हैं। अतएव जब कल्प का क्षय अर्थात् न्याय पवित्र नियम पालन की सामर्थ्य, यज्ञविद्या का क्षय होता है, तब सब प्राणी प्रकृति में लीन हो जाते हैं अर्थात् भोग-वाद में लीन हो जाते हैं, और कल्प के आदि में उन्हें फिर से उत्पन्न करता हूँ अर्थात् उन्हें न्याय यज्ञविद्या से युक्त पवित्र नियम पालन में समर्थ करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

प्रकृति को अपनी, वश में करके मैं, स्वभाव से पर-वश हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को बार-बार रचता हूँ ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

उन कर्मों में अनासक्त और उदासीन के समान स्थित हुए मुझे, ये कर्म नहीं बाँधते, हे धनंजय !

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

हे कौन्तेय, मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर सहित जगत को उत्पन्न करती है और इस हेतु से ही जगत बार-बार घूमता रहता है ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अनादर करते हैं मेरा मूढ़ जन, मनुष्य का शरीर धारण करने वाले। मेरे परम भाव को, न जानने वाले, जो सब प्राणियों का महान् परमेश्वर है।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म, व्यर्थ ज्ञान वाले विचारहीन जन, मोहित करने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति के आश्रित रहते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

महात्मा जन किन्तु, मेरी, पार्थ ! दैवी प्रकृति के आश्रित, निरन्तर भजते हैं अनन्य मन से, जान कर मुझे सब प्राणियों का आदि कारण और अविनाशी ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, यत्न करते हुए दृढ़व्रती जन, मुझे नमस्कार करते हुए नित्य भक्ति से युक्त हो, मेरी उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

ज्ञान यज्ञ द्वारा और भी दूसरे यजन करते हुए, मेरी उपासना करते हैं। एक भाव से, भिन्न भाव से, नाना प्रकार से, मेरे विश्व रूप की ।

उपरोक्त श्लोक में गीता पहली बार 'विश्वतोमुखम्' शब्द का प्रयोग करती है। इस 'विश्वतोमुखम्' अर्थात् विश्वरूप का ग्यारहवें अध्याय में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। ११।३२

'काल हूँ—लोकक्षय हित वर्धित हुआ, लोकों का नाश करने के लिये प्रवृत्त।' धर्म की स्थापना के लिये शाश्वत निरन्तर चलने वाला संघर्ष यह विश्व का वास्तविक रूप है। इस विश्वरूप के समक्ष, राष्ट्रीय विभूतियों का, देवी देवताओं का, महापुरुषों का कोई अस्तित्व नहीं है।

यह विश्व एक ही समस्या पर अनेक रूप से विचार करता है, भिन्न-भिन्न प्रकार से देखता है, भिन्न-भिन्न प्रकार से मत व्यक्त करता है, कारण कि इसके अनेक सिर, नेत्र और मुख हैं।

शवाच्छादित रणक्षेत्र भी इसका रूप है जिसमें भीष्म, द्रोण, कर्ण सहित सब राजाओं के कटे हुए सिर देखे जा सकते हैं। गीता के अनुसार रणक्षेत्र की आराधना तथा उसमें भी ईश्वरत्व को देखना भी भक्ति का एक पद है। केवल चार धाम और सात पुरो ही तीर्थ नहीं। कर्री, पानीपत, कनवाहा, तल्लीकोटा के महान् रणक्षेत्र भी तीर्थ हैं।

इस प्रकार गीता की भक्ति विश्वरूप की आराधना है। गीता की भक्ति का उपरोक्त तीन श्लोकों द्वारा स्पष्ट उद्घोष है कि 'भक्ति क्रान्ति की जननी है।' जो एकाकी भजन करते हैं वे तथा जो सामूहिक कीर्तन करते हैं वे भक्त भी तथा अनेक प्रकार से सद्विचार प्रवाहित करने वाले और ज्ञानयज्ञ करने वाले महात्मा, 'विश्वतोमुखम्' इस विश्वरूप की ही आराधना करते हैं।

मुगल काल, हिन्दू पराभव का काल; किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से भक्ति काल था और इस भक्ति प्रवाह ने संसार के सब से शक्तिशाली साम्राज्य के उन्मूलन में जो भूमिका निभाई, वह इतिहास प्रसिद्ध है।

ब्रिटिश साम्राज्य के उन्मूलन की भूमिका में श्री भगवान रामकृष्ण द्वारा प्रेरित स्वामी विवेकानन्द की अनन्य भक्ति, स्वामी रामतीर्थ की आध्यात्मिक चेतना तथा महर्षि दयानन्द के ज्ञानयज्ञ का प्रभाव एक ऐतिहासिक तथ्य है। भक्ति ही क्रान्ति की जननी है, यही गीता की 'राजविद्या' है, यही "रज गुह्यम्" है। यह विश्वरूप—क्रान्ति की वेला में—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

मैं (अधियज्ञ) ही क्रतु अर्थात् वैदिक यज्ञ, मैं ही स्मार्त यज्ञ, स्वधा (नैवेद्य) मैं, मैं औषध, मन्त्र मैं, मैं और घी, मैं अग्नि, मैं हवन रूप क्रिया।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

पिता मैं इस जगत का, माता, धारण पोषण करने वाला, पितामह, जानने योग्य पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ही और—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गति, भर्ता, प्रभुः साक्षी, निवास, शरण देने वाला मित्र, उत्पत्ति प्रलय स्थान, निधान, बीज अविनाशी ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

मैं तपता हूँ, वर्षा को थामता हूँ, बरसाता हूँ और अमृत मृत्यु सत् असत् अर्जुन मैं ।

क्रान्ति की वेला में सब यज्ञ, सारा आध्यात्मिक चिंतन, सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान, सब सत और असत बलिदान में ही समाहित हो जाते हैं। किन्तु जो इस क्रान्ति की जननी भक्ति में योग नहीं देते हैं वे—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्टवा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तीन विद्याओं को जानने वाले, सोमरस का पान करने वाले, पाप त्याग से पवित्र हुए यज्ञों द्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग प्राप्ति के लिये प्रार्थना

करते हैं, वे पुण्यों के फल रूप इन्द्रलोक को पाकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

वे भोगकर उस स्वर्गलोक विशाल को क्षीण होने पर पुण्यों के मृत्युलोक में आ जाते हैं और तीन धर्मों की शरण लिए हुए भी भोगों की कामना करने वाले बार-बार आने-जाने को प्राप्त होते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए मुझे जो जन भजते हैं उन नित्य मुझमें लगे रहने वालों का योग (जो प्राप्त नहीं उसे प्राप्त करना) क्षेम (जो प्राप्त है, उसको रक्षा करना) मैं चलाता हूँ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

श्रद्धा से युक्त हो जो भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं वे भी मुझे ही पूजते हैं; कौन्तेय ! अविधिपूर्वक।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

मैं ही क्योंकि सब यज्ञों का भोगने वाला और स्वामी भी, किन्तु मुझे जो नहीं जानते तत्त्व से, अतः वे गिर जाते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

प्राप्त होते हैं देवव्रती देवताओं को, पितरों को प्राप्त होते हैं, पितृव्रती। भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं। प्राप्त होते हैं मेरे भक्त ही मुझको।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्र, पुष्प, फल, जल, जो मुझे भक्ति से देता है उस शुद्ध-बुद्ध आत्मसंयमी का वह प्रेम से अर्पण किया हुआ मैं खाता हूँ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे कौन्तेय, (तू) जो करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो तप करता है वह मेरे अर्पण कर—

जिस प्रकार भगवान ने चौथे अध्याय में अधर्म नाश हेतु स्वयं का महत्व कहा तथा कर्म, अकर्म और विकर्म का ज्ञान दिया, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, आत्म संयम, द्रव्य यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, प्राणायाम आदि तथा नियताहार का विधान किया, उसी प्रकार यहाँ भक्ति द्वारा 'विश्वतोमुखम्' की आराधना की गई, श्लोक १६ से १९ तक सब यज्ञ वैदिक ज्ञान, आध्यात्मिक चिन्तन अधियज्ञ में समाविष्ट किये गये हैं।

श्लाक २०-२१ में जो विद्वान लोग क्रान्ति में योग नहीं देते, वे स्वर्गलोक से नीचे गिर कर मृत्यु लोक में आ जाते हैं।

इसके साथ ही, अन्य देवताओं की पूजा करने वाले भी गिर जाते हैं। पत्र, पुष्प, फल, और जल से भी जो भक्ति द्वारा सहयोग देता है, वह भी मैं (अधियज्ञ) खाता हूँ। अन्त में शरीर की समस्त क्रियाओं को ईश्वर (अधियज्ञ अर्थात् धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग) हेतु समर्पित करने का आवाहन है, तथा इसके द्वारा।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

इस प्रकार संन्यास योग (कार्यम कर्म करोति यः स संन्यासी च योगी च)— जो करने योग्य कर्म करता है वही संन्यासी और योगी है) अर्थात् करने योग्य कर्म, करता हुआ (युक्तात्मा) तू शुभ अशुभ फल के कर्म बन्धन से मुक्त हो जायगा और मुक्त होकर मुझे प्राप्त होगा।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

मैं अधियज्ञ सब प्राणियों में समभाव से हूँ। मेरा न कोई अप्रिय है न प्रिय है किन्तु जो मुझे भक्ति से भजते हैं वे मुझमें और मैं भी उनमें हूँ।

अध्याय के आरम्भ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि—

मत्स्थानि सर्वं भूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:

"सब प्राणी मुझ में स्थित हैं मैं उनमें नहीं हूँ। ६।४। तथा—

'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य में योग मैश्वरम् ६।१। सब प्राणी मुझ में स्थित नहीं हैं"—

इन दो विपरीत श्लोकांशों का गीता द्वारा स्पष्टीकरण है कि "भक्ति से जो मुझे भजते हैं वे मुझमें और मैं उनमें हूँ। यद्यपि दिन प्रतिदिन के व्यवहार में व्यक्ति, ईश्वर भाव शून्य ही दिखाई देता है किन्तु भक्ति द्वारा ईश्वर भाव, धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का भाव उसमें व्याप्त हो जाता है।

भक्त वही है जो अधियज्ञ के प्रति समर्पित है। बलिदान भाव शून्य व्यक्ति तो भक्त नहीं कहा जा सकता, वह तो भक्ति व्यवसायी मात्र ही है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य:सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।३०।।

यदि अतिशय दुराचारी भी भजता है मुझे अनन्य भाव से, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ चेष्टायुक्त है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति ।।३१।।

शीघ्र ही हो जाता है धर्मात्मा, सदास्थिर शान्ति को प्राप्त होता है। कौन्तेय ! सत्य समझो मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय: ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।३२।।

मेरी ही शरण लेकर जो हैं पाप प्रकृति में, स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी, प्राप्त होते हैं परम गति का।

जिस विश्वतोमुखम् की आराधना भक्ति द्वारा की जाती है उसका रहस्य इतिहास के पृष्ठों पर बारम्बार स्पष्ट रूप से अंकित है।

जो तीनों वेदों के ज्ञाता पापमुक्त सोमया अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत का

धारण करने वाले विद्वान समाज में जागृति का सिंहनाद नहीं करते, वे क्रांति की वेला में स्वर्ग लोक से मृत्यु लोक में आ जाते हैं, तथा घोर दुर्दशा को प्राप्त होते हैं। देश टूटता रहा, समाज बिखरता रहा, मध्य एशिया की बर्बर जातियाँ इस्लाम के झण्डे के तले एकत्र हो, भारतवर्ष पर टूट पड़ीं। सारा देश उनने रौंद डाला पर हमारे पण्डितों ने समाज में जाग्रति लाने का कोई प्रयास नहीं किया, फलस्वरूप मथुरा, बनारस, सोमनाथ के पण्डित गज़नी के बाजारों में गुलाम बनाकर तीन-तीन रुपये में बेचे गये। (क्षीणे पुण्ये मृत्य लोकं विशन्ति)।

इसके विपरीत चितौड़ में जल मरने वाली देवियाँ, राणा प्रताप के भील, शिवाजी के मावले, स्त्री और शूद्र होते हुए भी सर्वोच्च गति को प्राप्त हुए (स्त्रियो, वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्तिपरां गतिम्)।

केवल एकमात्र धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग—(गीता के अधियज्ञ अथवा अहम्) में ही शूद्र, वनिता और वैश्य को परम गति प्रदान करने की क्षमता है। अन्य किसी देवी देवता तथा उपासना पद्धति द्वारा यह सम्भव ही नहीं है। बलिदान द्वारा ही दुराचारी का उत्थान होता है। छत्रपति सम्भाजी महाराज आजीवन पाप-लिप्त रहे किन्तु अपने निर्भीक बलिदान के कारण एक क्षण में ही धर्मात्मा हो गये (क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्तिम् निगच्छति)।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

फिर पुण्यवान ब्राह्मणों, राजऋषियों तथा भक्तों की क्या बात है, इस सुखहीन नाशवान लोक को प्राप्त हो कर मेरा भजन कर।

राजऋषि और पुण्यशील ब्राह्मण यदि अपना बलिदान देता है तो उसका प्रभाव स्थायी और व्यापक होता है। मुगल काल में गुरु तेगबहादुर, गुरु अर्जुनदेव, हकीकतराय और भाई मतिदास का बलिदान राजऋषियों का बलिदान था। ब्रिटिश राज्य में अधिकांश क्रान्तिकारी—झाँसी की रानी, वीर सावरकर तथा बंगाल के क्रान्तिकारी युवकों का बलिदान, ब्रह्म ऋषियों का ही बलिदान था। उनके बलिदान का प्रभाव भारतीय जन-मानस पर आज भी अंकित है। अतएव—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ।।३४।।

मुझ (अधियज्ञ) में मन वाला हो, मेरा (अधियज्ञ का) भक्त बन मेरा (अधियज्ञ का) भजन करने वाला ही मुझे (अधियज्ञ को) नमस्कार कर, इस प्रकार आत्मा को युक्त करके मेरे (अधियज्ञ के) परायण हुआ तू मुझ (अधियज्ञ) को ही प्राप्त होगा।

यह श्लोक इतना महत्वपूर्ण है कि इसका आधा भाग शब्दश: १८।६५ में दोहराया गया है—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी माँ नमस्कुरु"।

* * *

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ।।41।।

जो-जो विभूतियुक्त वस्तु है, श्रीयुक्त, शक्तियुक्त, और उसे उसे जान तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न ।

दशम् अध्याय

श्री भगवानुवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम श्रेष्ठ वचन सुन, जो मैं (तुझे) मेरे वचनों में प्रीति रखने वाले, के लिये, हित की इच्छा से कहूँगा।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरी उत्पत्ति को न देवता और न महर्षिजन जानते हैं क्योंकि मैं देवताओं और महर्षिगण का सब प्रकार से आदि, अर्थात् मूल कारण हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

जो मेरे को अजन्मा अनादि और लोकों का महेश्वर जानता है वह मानव समूह में मोह रहित होकर सब पापों से मुक्त हो जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, मोहविहीनता, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय दमन, मन का निग्रह, सुख, दुःख, होना और न होना, भय और अभय भी, तथा अहिंसा, समता सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश यह प्राणियों के भिन्न-भिन्न भाव मेरे (अधियज्ञ) से ही होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सात महर्षि तथा पूर्व में होने वाले चार मनु, मेरे में भाव वाले, मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए (मानसपुत्र) हैं जिनकी लोक में ये प्रजायें हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

इस विभूति योग को मेरे और जो जानता है तत्व से। वह स्थिर योग द्वारा स्थित रहता है, नहीं इसमें संशय।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं सब की उत्पत्ति का कारण हूँ, यह सब मुझसे प्रवृत्त होता है ऐसा मानकर भजते हैं मेरे को बुद्धिमान (व्यक्ति) भावयुक्त हो।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

मुझ में चित्त लगाने वाले, मुझ में प्राण अर्पण करने वाले, नित्य परस्पर बोधन करते हुए और मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं और रमण करते हैं (आनन्द अनुभव करते हैं)।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

उन निरन्तर युक्त, प्रीति पूर्वक भजन करने वालों को मैं वह बुद्धि योग देता हूँ जिससे वे मेरे निकट जाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उन पर ही कृपा करने के लिये मैं अज्ञानजन्य अन्धकार का नाश करता हूँ उनके आत्मभाव में स्थित हुआ, प्रकाशमय ज्ञानदीप के द्वारा।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

(आप) परम ब्रह्म, सबके आश्रय, परम पवित्र हैं आप ही सनातन दिव्य पुरुष आदि देव अजन्मा और सर्वव्यापी हैं। (यहाँ पर अर्जुन ने भगवान को परम् ब्रह्म कहा है। इसी प्रकार ग्यारहवें अध्याय के १८ वें श्लोक में अर्जुन ने फिर यही भाव दूसरी बार व्यक्त किया। किन्तु १२ वें अध्याय में अर्जुन स्वतः ही प्रश्न का आधार यह बनाते हैं कि आराधना किसकी की जाये 'आपकी अथवा अक्षर ब्रह्म की'। अर्जुन की इसी दुविधा का निराकरण भगवान १३, १४, १५ अध्याय में पूर्णतया करते हैं। इसके साथ ही १५ वें अध्याय में स्पष्ट रूप से भगवान कहते हैं कि मैं कूटस्थ अक्षर ब्रह्म से श्रेष्ठ हूँ।)

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

सारे ऋषि जन तथा देवर्षि नारद, असित, देवल ऋषि, और व्यास भी आपको यही कहते हैं । और आप भी स्वयं मुझसे ऐसा ही कहते हैं ।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! आप जो मुझसे कहते हैं इस सबको मैं सत्य मानता हूँ । आपके व्यक्तित्व को न देवता जानते हैं और न दानव ही ।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

स्वयं ही आत्मा द्वारा आत्मा को जानते हैं आप पुरुषोत्तम, प्राणियों के भावों को उत्पन्न करने वाले, भूतों के ईश्वर, देव, देव जगत्पति ।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

आप ही कहने योग्य हैं, पूर्णतया उन दिव्य आत्म विभूतियों को ज़िन विभूतियों द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं ।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगी ! किस प्रकार जानूँ मैं आपको सदा चिन्तन करता हुआ । किन-किन और भावों में चिन्तन करने योग्य हैं आप भगवान मेरे द्वारा ।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन ! विस्तार पूर्वक आत्म योग और विभूति फिर कहिये, क्योंकि आपकी अमृतमय वाणी को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती ।

श्री भगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं तेरे लिये दिव्य आत्म विभूतियों को मुख्यतया कहूँगा क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है ।

(यहाँ से गीता का विभूति योग आरम्भ होता है, तथा भगवान ने अपने आपको प्रत्येक विभूति के साथ एकातम किया है। वर्णन इतना प्रभाव शाली और मधुर है कि यह प्रतीत होने लगता है कि प्रत्येक विभूति भगवान का ही रूप है। किन्तु अन्त में भगवान स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि "जो-जो भी विभूतियुक्त, श्रीयुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उस उसको तू मेरे तेज के ही अंश से उत्पन्न जान" (१०।४१)

ईश्वर का अंश क्या है, यह अध्याय १५।७ में स्पष्ट कहा है—

ममैवांशी जीवलोके जीवभूतः सनातनः

"मेरा ही अंश इस प्राणीलोक में यह प्राणरूप सनातन"। इसी सन्दर्भ में ७ वें अध्याय में परा प्रकृति को ही "जीवरूपा" कहा गया है। "जीवभूतां महाबाहो ययैदं धार्यते जगत्—जीव रूप मेरी परा प्रकृति जानो जिससे यह जगत धारण किया जाता है)। इस प्रकार सब विभूतियां प्राण अर्थात् परा प्रकृति की ही अभिव्यक्ति मात्र हैं। यह विभूतियाँ भगवान नहीं ईश्वर के अंश हैं, इन विभूतियों का प्रभाव क्षेत्र भी सीमित है। भारतवर्ष के बाहर हमारे १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु, दो अश्वनिकुमार, ४९ मरुत बृहस्पति, शुक्राचार्य आदि को कोई नहीं जानता।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे निद्राजयी अर्जुन, मैं सब प्राणियों के अन्तर में स्थित आतमा हूँ, तथा सब प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ।

इन्द्रिय, मन, बुद्धि से श्रेष्ठ तत्व आत्मा ईश्वर की सर्वप्रथम विभूति है। जीवन की आरम्भ की असहाय आदि अवस्था; मध्य का पूर्ण विकास तथा अन्त में कोलाहल हीन विसर्जन, प्राणी मात्र के जीवन की कहानी, ईश्वर के अंश प्राण की दूसरी विभूति है।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ, मरुतों में मरोचि हूँ और नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदों में मैं सामवेद (उपासना, प्रार्थना के मन्त्र), देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और प्राणियों में चेतना हूँ ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रों में शंकर हूँ और यक्ष राक्षसों में कुबेर हूँ। वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु मैं हूँ ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

पुरोहितों में और मुख्य जान हे पार्थ ! मेरे को बृहस्पति । सेनानियों में स्कन्द, सरोवरों में सागर हूँ ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

मैं महर्षियों में भृगु हूँ, वाणियों में एक अक्षर, यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय हूँ ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

मैं सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवऋषियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ ।

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

घोड़ों में अमृत से उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा, श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत हाथी और मनुष्यों में मुझे राजा जान।

आयुधानामहं वज्र धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

मैं शस्त्रों में वज्र हूँ, गौओं में कामधेनु, और सन्तति उत्पन्न करने वाला कामदेव हूँ, और सर्पों में वासुकी हूँ ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।२९।।

मैं नागों में शेषनाग और जलचरों में वरुण हूँ, पितरों में अर्यमा और संयम करने वालों में मैं यम हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।३०।।

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ और गिनती करने वालों में काल हूँ और पशुओं में सिंह तथा पक्षियों में गरुड़ हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।३१।।

वायु, पवित्र करने वालों में, शस्त्र धारियों में, मैं राम हूँ। मछलियों में मगर हूँ, और नदियों में गंगा हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।।३२।।

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या और विवाद करने वालों में वाद हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।।३३।।

मैं अक्षरों में अकार और समासों में द्वन्द हूँ। अक्षय काल तथा विश्वरूप सबका धारण पोषण करने वाला भी मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।३४।।

मैं सबका हरण करने वाला मृत्यु हूँ और भविष्य में आगे होने वालों में (उत्कर्ष प्राप्ति के योग्य प्राणियों में) मैं उत्पत्ति का कारण हूँ और स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।३५।।

मैं सामों में वृहत्साम् हूँ, छन्दों में गायत्री, मासों में मार्गशीर्ष तथा ऋतुओं में बसन्त हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।।३६।।

छल करने वालों (एक दूसरे को ठगने में तत्पर) में मैं जुआ हूँ, मैं तेजस्वियों का तेज हूँ। जीतने वालों की विजय हूँ। निश्चय करने वालों का निश्चय, सात्विक पुरुषों का सत्त्व मैं हूँ।

वृष्णीनां बासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।।३७।।

मैं वृष्णि वंशियों में वासुदेव, पाण्डवों में धनंजय, मुनियों में व्यास, कवियों में शुक्राचार्य कवि भी हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।।३८।।

"दण्ड" दमन करने वालों का हूँ। नीति हूँ, जीतने की इच्छा करने वालों की। और मौन हूँ गुप्त भावों में, और ज्ञान हूँ ज्ञानवानों का।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।।३९।।

जो और भी सब भूतों का बीज (है) वह मैं हूँ अर्जुन ! न वह है बिना जो मेरे प्राणी चर और अचर।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।।४०।।

नहीं अन्त है मेरी दिव्य विभूतियों का परन्तप ! यह तो उद्देशतः (निर्देशन के लिये) कहा है विभूतियों का विस्तार मैं ने।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।।४१।।

जो-जो विभूतियुक्त वस्तु है श्रीयुक्त शक्तियुक्त और उसे-उसे जान तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।४२।।

अथवा बहुत इस जानने से तेरा क्या प्रयोजन, अर्जुन ! धारण करके इस सम्पूर्ण जगत को एक अंश मात्र से, स्थित हूँ।

यह गीता का दशम अध्याय, भक्ति का चौथा पद है। भारतवर्ष के देवी देवता, आचार्य, कवि, ऋषि मुनि, हिमालय, गंगा, सागर, पशु पक्षी और जलचर आदि के प्रति आदर व्यक्त किया गया है। इन्हें ईश्वर के अंश की विभूति कहा गया है। संक्षेप में यह समाज के आदर केन्द्र अथवा मान बिन्दु हैं। समाज के मान बिन्दुओं के प्रति आदर, और श्रद्धा का भाव रखना भक्ति का अभिन्न अंग है।

* * *

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ॥३२॥

काल हूँ लोक के क्षय के लिये वर्धित हुआ। लोकों का नाश करने के लिये प्रवृत्त।

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

मुझ पर अनुग्रह करने के लिये, परम रहस्यमय अध्यात्म नाम का जो आपके द्वारा वचन कहा गया उस से मेरा यह मोह चला गया है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

उत्पत्ति और लय सब प्राणियों का सुना है विस्तार पूर्वक मैंने, आपसे तथा हे कमल पत्राक्ष, (आपका) माहात्म्य भी जो निःसन्देह अव्यय है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

ऐसा ही है यह जैसा कहते हैं आप आत्मा (अध्यात्म) को। देखना चाहता हूँ आपके ऐश्वर्य युक्त रूप को हे परमेश्वर !

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

मानते हैं यदि वह आपका रूप, सम्भव है मेरे द्वारा देखा जाना, ऐसा प्रभो ! तो हे योगेश्वर ! आप मुझे दर्शन कराइये अव्यय आत्मा का।

उपरोक्त श्लोक सारगर्भित है। जिस प्रकार तोसरे अध्याय में भगवान द्वारा यह प्रतिपादित करने पर कि विधाता ने सृष्टि के साथ ही यज्ञ की रचना की, अन्न भी यज्ञ द्वारा ही प्राप्त होता है, आदर्श जन लोकसंग्रह का आधार भी यज्ञ ही कहते हैं, तो अर्जुन ने प्रश्न किया कि मनुष्य पाप क्यों करता है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरित पूरुषः ३।३६

इसी प्रकार यहाँ भी अर्जुन ने संक्षेप में भगवान ने जो कुछ कहा उसे दोहराया (१) उत्पत्ति लय का रहस्य (२) परम गुह्य मध्यात्म संज्ञितम— जो आपने नवम् अध्याय में जिस गूढ़ अध्यातम का वर्णन किया तथा इसके पूर्व जो जगत की शाश्वत शुक्ल और कृष्ण गति का वर्णन किया (३) तथा विभूति योग द्वारा जो आपका महात्म्य है वह भी सुन लिया। किन्तु आपनें जो "अजोऽपिसन्न व्ययात्मा भूतानां ईश्वरोऽपि सन्" (४।६)

वह अव्यय आत्मा जिसके द्वारा 'परित्राणाय साधुनां'—आदि धर्मसंस्थापन का कार्य होता है उस अव्यय आत्मा का मुझे दर्शन अथवा बोध कराइये। कारण कि सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान, अध्यात्मज्ञान और विभूति योग आज जो युग की समस्या अर्थात् महाभारत युद्ध सामने उपस्थित है उसका औचित्य प्रतिपादन करने में असमर्थ है।

भगवान ने इसके पूर्व दो बार विश्वतोमुखम् (९।१५ तथा १०।३३) शब्द का प्रयोग किया है। उसी विश्व रूप के माध्यम से अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान कहते हैं।

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।५।।

हे पार्थ, देख अब मेरे रूप सैकड़ों और हजारों अनेक प्रकार के भांति-भांति के दिव्य वर्ण तथा आकृति वाले (रूपों) को।

(इस पृथ्वी पर अनेक वर्णों और आकृति वालों भिन्न-भिन्न मनुष्य समुदाय हैं उन पर विचार कर)।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।६।।

देख आदित्यों को, वसुओं को, रुद्रों को, दोनों अश्विनि कुमारों को मरुतों को तथा अनेक न पहले देखे हुए आश्चर्यों को हे भारत, देख। अर्जुन, भलीभाँति देख लो तुम्हारे बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ बसु, दोनों अश्वनि कुमारों और उन्चास मरुतों को हिमालय के उस पार कोई नहीं जानता। उन राष्ट्रों के अपने देवी देवता, पहाड़, नदियां, पशु, पक्षी और आचार्य हैं। हमारी धारणायें और मान्यतायें विश्व के सन्दर्भ में महत्वहीन हो जाती है।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।।७।।

इस एक स्थान पर एकत्र हुए सम्पूर्ण जगत को अब चराचर सहित मेरी देह में देख, हे निद्राजयी अर्जुन! जो और भी देखना चाहता है (वह भी) देख।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

परन्तु तू मुझे (इस विश्वरूप को) इन अपने नेत्रों से देखने में समर्थ नहीं है। मैं तुझे दिव्य दृष्टि देता हूँ उससे मेरे योग ऐश्वर्य को देख। (विश्व को समझने के लिये मनुष्य को परिवार, समाज और देश पर आधारित अपनी धारणाओं और आध्यात्मिक मान्यताओं को त्यागना पड़ता है। यही विश्व के सन्दर्भ में दिव्य दृष्टि है। भगवान अर्जुन को वही दृष्टि देते हैं)।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

इस प्रकार कह कर फिर राजन। महान् योगेश्वर हरि ने दिखाया पार्थ को; परम रूप ऐश्वर्य युक्त।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

(१) अनेक मुखों और, नेत्रों वाला (यह विश्व एक ही समस्या को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखने वाला और एक ही समस्या पर भाँति-भाँति का मत व्यक्त करने वाला है) (२) भाँति-भाँति के अद्भुत दर्शनों वाला (विश्व में अनेक आश्चर्य हैं) (३) नाना प्रकार के दिव्य शस्त्रों को उठाये हुए (४) अनेक दिव्य भूषणों वाला (५) दिव्य माला और वस्त्रों को ग्रहण किये हुए, दिव्य गन्धों का लेप किये हुए (इस संसार के अनेक राष्ट्र भौतिक दृष्टि से पूर्णतया सम्पन्न है) सब प्रकार के आश्चर्यों से भरा, सब ओर मुख किये, वह अन्तहीन देव था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाश में एक साथ सहस्रों सूर्यों के उदय होने से जो प्रकाश हो वह उस महात्मा के प्रकाश के समान कदाचित ही हो।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

उस एक स्थान पर जगत को सम्पूर्ण, विभक्त अनेक प्रकार से देखा, देवाधिदेव के शरीर में पाण्डव अर्जुन ने तब।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

तब वह आश्चर्य से व्याप्त रोमान्चित शरीर वाला धनंजय (उस) देव को सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोला।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

देखता हूँ सब देवताओं को हे देव! आपके शरीर में तथा प्राणियों के समुदाय को, प्रभु ब्रह्मा को कमल आसन पर स्थित, ऋषियों को तथा सब दिव्य सर्पों को।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

अनेक बाहु, उदर, मुख, नेत्र। देखता हूँ आपको सब ओर से अनन्त रूप, न अन्त, न मध्य, न फिर तुम्हारा आदि, देखता हूँ विश्वेश्वर! विश्वरूप।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मस्तक पर मुकुट पहने हुए, (हाथों में) चक्र और गदा लिये हुए, सब ओर से प्रभा संपन्न, ज्योतिपुन्ज दुर्दर्श देखता हूँ आपको सब ओर से ज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश दीप्तियुक्त अप्रमेय (अनिर्धारित, असीम)।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप अक्षर परम, जानने योग्य, आप इस जगत के परम आश्रय आप अव्यय, शाश्वत धर्म के रक्षक, सनातन पुरुष हैं आप, (ऐसा) मेरा मत है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

नहीं है आदि, नहीं मध्य, नहीं है अन्त, अनन्त वीर्ययुक्त, असंख्य बाहुयुक्त, शशि-सूर्य रूपी नेत्र, देखता हूँ आपको प्रज्वलित अग्नि सदृश मुखों वाला, अपने तेज से विश्व को सन्तप्त करते हुए।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

द्युलोक (सूर्य चन्द्र नक्षत्र और तारा समूह) और पृथ्वी के बीच का सब अन्तरिक्ष, सब दिशायें एक आप से ही व्याप्त हैं। आपका यह उग्र अद्भुत रूप देख कर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं, महात्मन् !

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

वे देवताओं के संघ आपमें ही प्रवेश करते हैं। कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़कर स्तुति करते हैं। "कल्याण हो" ऐसा कहकर महर्षि और सिद्धसंघ भी स्तुति करते हैं आपकी—विपुल स्तोत्रों द्वारा।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, तथा जो साध्यगण हैं, विश्वेदेव, अश्वनिकुमार मरुत, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सिद्धसंघ देखते हैं आपको ही, सब आश्चर्य चकित होकर।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

रूप को महान् ! अनेक मुख नेत्र ! हे महाबाहो ! अनेक बाहु, जंघा, पद, अनेक उदर, अनेक कराल दाढ़ोंयुक्त (मुख) देख कर लोक व्यथित हो रहे हैं, और मैं भी।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

नभ को छूते हुए प्रकाशयुक्त अनेक वर्णों वाला, फैलाये हुए मुखों वाला, प्रकाशमान विशाल नेत्रों वाला, देखकर ही आपको, व्यथित अन्तरात्मा वाला, 'मैं' न धैर्य (धर) पाता हूँ और न शान्ति हो है विष्णु।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्टवैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद्र देवेश जगन्निवास ॥२५॥

विकराल दाढ़ों वाले और आपके मुखों को देखकर ही, (जो) प्रलय-काल की अग्नि के समान प्रज्वलित हैं, न दिशायें सूझती हैं और न हर्ष प्राप्त होता है। प्रसन्न हो जावें हे देवेश जगत के आधार।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

और वे धृतराष्ट्र के पुत्र सब पृथ्वीपतियों के संघ के सहित ही भीष्म, द्रोण, सूत पुत्र कर्ण तथा हमारे पक्ष के प्रमुख योद्धाओं के सहित आपके मुखों में बड़े वेग से प्रवेश करते हैं तथा आपके विकराल दाढ़ों वाले भयानक दांतों के बीच में लगे हुए चूर्णित (पिसे हुए) उत्तम अंगों सहित दिखाई देते हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।२८।।

जैंसे नदियों के अनेकों जल प्रवाह समुद्र की ओर ही बहते हैं, वैसे ही यह नरलोक के वीर प्रवेश कर रहे हैं आपके प्रज्वलित मुखों में।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।।२९।।

जिस प्रकार प्रदीप्त ज्वाला में पतंगे जाते हैं नष्ट होने के लिये बड़े वेग से। वैसे ही नाश के लिये प्रवेश करते हैं यह सब लोग आपके मुखों में बड़े वेग से।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।।३०।।

चाट रहे हैं ग्रसन करते हुए सब ओर से सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों में। (अपने) तेज के द्वारा सम्पूर्ण जगत को व्याप्त कर, आपका उग्र प्रकाश तपा रहा है, हे विष्णो!

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।३१।।

कहिये मुझ से कौन हैं आप उग्र रूप! नमस्कार हो आपको, हे देवश्रेष्ठ! प्रसन्न हो जाइये। हे आदि पुरुष, मैं आपको जानना चाहता

हूँ। नहीं जानता मैं आपकी प्रवृत्ति को (आप किस कारण इस भीषण कर्म में प्रवृत्त हुए हैं)।

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

काल हूँ, लोक के क्षय के लिये वर्धित हुआ। लोकों का नाश करने के लिये प्रवृत्त। तेरे बिना भी न भविष्य में रहेंगे सब जो स्थित हैं प्रतिपक्षी सेना में योद्धा।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

अतः तू उठ यश को प्राप्त कर, जीत कर शत्रुओं को समृद्ध राज्य को भोग। यह सब (योद्धा) मेरे द्वारा ही मारे हुए हैं पहले ही। निमित्त मात्र ही है सव्यसाची (बाँये हाथ से बाण संधान करने वाले)।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोणाचार्य और भीष्म और जयद्रथ और कर्ण तथा और भी रणशूर मेरे द्वारा मारे हुए हैं, उन्हें तू मार। व्यथित मत हो, युद्ध कर तू, शत्रुओं को रण में जीतेगा।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

केशव की इस वाणी को सुन कर, हाथ जोड़ कर काँपते हुए किरीटधारी अर्जुन नमस्कार करते हुए और भी कहने लगे कृष्ण से, गद्गद् हुए, भयभीत हुए, प्रणाम करते हुए।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या ।
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।।३६।।

यह उचित ही है, हृषिकेश कि आपके कीर्तन से जगत हर्षित होता है, अनुराग को प्राप्त होता है। राक्षस लोग भयभीत हो दूर दिशाओं में भागते हैं तथा सब सिद्ध संघ नमस्कार करते हैं ।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।३७।।

और क्यों न आपको नमन हो महात्मन ! आप श्रेष्ठ हैं, ब्रह्मा के भी आदिकर्त्ता ! अनन्त देवेश जगदाधार ! आप अक्षर, सत् असत् से परे जो ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।३८।।

आप आदि देव, पुरातन पुरुष, आप इस विश्व के परम आश्रय ज्ञाता (सर्वज्ञ) जानने योग्य, परमधाम, आपसे परिपूर्ण जगत, हे अनन्त रूप।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।३९।।

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति हैं आप, प्रपितामह हैं। नमस्कार, नमस्कार हो आपको हजार बार, फिर भी बार-बार नमस्कार हो, नमस्कार हो।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।४०।।

नमन आपको आगे से भी और पीछे से भी, नमस्कार है आपको सब ओर से, हे सर्व ! अनन्त वीर्य, अमित विक्रम आपका, सबको व्याप्त किये हुए हैं, अतः सर्व हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ।।४१।।

सखा, ऐसा मानकर हठ से जो कहा है, हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, इस प्रकार न जानते हुए महिमा को आपकी, यह (कहा) मैंने प्रमाद से अथवा प्रेम से भी।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।४२।।

जो और हँसी के लिये किये गये अपमान हैं, विहार में, सोते में, बैठने में; भोजन में, एकान्त में, अथवा हे अच्युत, दूसरों के सामने, उनकी आपसे मैं क्षमा मांगता हूँ। आप अमित प्रभावयुत हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।

(आप) पिता हैं इस लोक के, चराचर के, आप पूज्य और गुरु, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ। न आपके समान कोई है। आप से दूसरा कैसे अधिक हो सकता है। तीनों लोकों में भी आपका प्रभाव अमित है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।४४।।

इसलिये प्रणाम करता हूँ, काया को दण्ड के समान करके। आपके प्रसन्न होने के लिये आपकी प्रार्थना करता हूँ, हे वन्दन योग्य ईश पिता

जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के, प्रिय जैसे प्रिया के (अपराध) सहने में समर्थ है वैसे ही आप (मेरा अपराध) सहन करने योग्य हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

हे देव, पूर्व में (पहले) न देखे हुए आपके इस रूप को देख कर मैं हर्षित हो रहा हूँ परन्तु मेरा मन भय से विशेष रूप से व्यथित हो रहा है। इसलिये हे जगदाधार, हे देवेश प्रसन्न हो जाइये, मुझे उस पहले वाले स्वरूप को ही दिखलाइये।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र हाथ में लिये हुए मैं आपको वैसे ही देखना चाहता हूँ। उस ही चतुर्भुज रूप से प्रकट हो जाइये। हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्ते।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

मैंने प्रसन्न हो कर तुझे अर्जुन, आत्म योग से परम रूप दिखाया है, यह तेजोमय विश्व रूप अनन्त, आदि (सबका) है जो तेरे अतिरिक्त दूसरे (किसी) ने पहले नहीं देखा।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

न वेद, यज्ञ, अध्ययन से, न दान से, न और क्रिया कर्म से, न उग्र तपस्या से, इस प्रकार रूप वाले मेरे को नर लोक में तेरे अतिरिक्त दूसरों के द्वारा देखा जाना शक्य नहीं है। हे कुरु श्रेष्ठ!

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभी: प्रीतमना: पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।।४९।।

मेरे इस घोर रूप को देख कर, व्यथित (दु:खी) मत हो, विमूढ़ भाव को प्राप्त मत हो, भय रहित हो, और प्रेमपूर्ण मन वाला होकर तू मेरे उस ही इस रूप को फिर देख ।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूय: ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुन: सौम्यवपुर्महात्मा ।।५०।।

इस प्रकार अर्जुन से वासुदेव ने वैसे ही कहकर अपना रूप दिखाया फिर, उस भयभीत अर्जुन को उन महात्मा कृष्ण ने सौम्य शरीर धारण कर धीरज दिया ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्त: सचेता: प्रकृतिं गत: ।।५१।।

हे जनार्दन ! आपका यह सौम्य (शुभ और सुन्दर) मनुष्य रूप देख कर सचेत हो गया हूँ तथा प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक प्रकृति में स्थित) हो गया हूँ ।

श्री भगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिण: ।।५२।।

मेरा जो रूप तुमने देखा है, उसे देखना कठिन है । देवता भी इस रूप को देखने की नित्य इच्छा करते हैं ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।५३।।

न वेदों से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से, मुझे इस प्रकार देखना संभव है, जैसे (तूने) मुझे देखा है ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

हे अर्जुन, परन्तु अनन्य भक्ति द्वारा संभव है मुझे देखना जानना तत्त्व से, तथा प्रवेश करने के लिये भी शक्य (संभव) हूँ। हे परंतप !

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

मेरे लिये जो कर्म करता है मुझे ही परम पुरुष (एवम् परम प्राप्तव्य) मानता है। मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है, सब प्राणियों के प्रति जो बैरहीन है, वह मुझे प्राप्त होता है, हे पाण्डव !

❋ ❋ ❋

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१२।१॥

इस प्रकार से नित्य युक्त भक्त आपकी (अधियज्ञ की) उपासना करते हैं वे और जो अविनाशी अव्यक्त (ब्रह्म) की उपासना करते हैं उनमें उत्तम योग वेत्ता कौन हैं ?
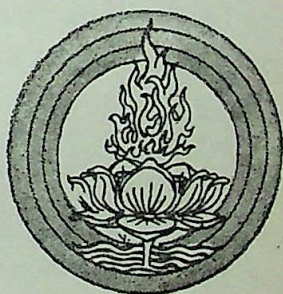
बारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच
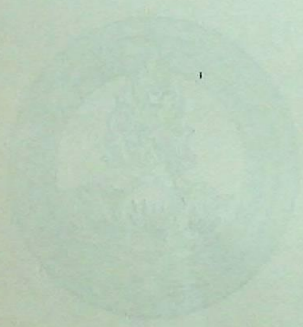
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

इस प्रकार से जो नित्य युक्त भक्त आपकी (अधियज्ञ की) उपासना करते हैं वे और जो अविनाशी अव्यक्त (ब्रह्म) की उपासना करते हैं उनमें उत्तम योग वेत्ता कौन हैं ?

भक्ति योग पर आधारित ज्ञान विज्ञान योग, अक्षर ब्रह्म योग, राज-विद्या रहस्य योग, विभूति योग, विश्वरूप योग सुनकर अर्जुन ने प्रश्न किया कि उपरोक्त ७, ८, ९, १० अध्यायों में जो आपने प्रतिपादित किया वह ११ वें अध्याय में जिसे 'विश्वरूप' कहते हैं उससे नितान्त भिन्न है। ७ से १० अध्याय तक जो ज्ञान आपके द्वारा दिया गया है, वह व्यक्ति और समाज के उत्थान और विकास का आधार है। ग्यारहवाँ अध्याय धर्म हेतु संसार के संहार का निरूपण है। इस अवस्था में उपासना किसकी की जाय ?

उपरोक्त प्रश्न बहुत सारगर्भित है। अव्यक्त अक्षर ब्रह्म उपासना का आधार हो अथवा उपासना का आधार अधियज्ञ हो। और भी स्पष्ट रूप से कहा जाय तो प्रश्न है कि आराधना प्राण (ब्रह्म) की हो अथवा प्राणोत्सर्ग की और भी स्पष्ट रूप से पूछा जाय तो यज्ञ रहित जीवन पद्धति हो अथवा यज्ञ पर आधारित जीवन पद्धति हो ।

मानव जीवन अथवा प्राणीमात्र का जीवन यद्यपि एक बहुत बड़ा सत्य है वही ब्रह्म है किन्तु इससे भी बड़ा सत्य यह है कि बलिदान के बिना जीवन का अस्तित्व प्रतिष्ठा शून्य है। सब विभूतियाँ जो समाज के जीवन का आधार हैं अधियज्ञ के अंश से ही व्याप्त हैं, तथा अध्याय १४।२७ में गीता का स्पष्ट निर्देश है कि—

"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ब्रह्म (प्राण) की प्रतिष्ठा मैं अधियज्ञ अर्थात् प्राणोत्सर्ग, अमृत की भी और अविनाशी की भी सनातन धर्म की भी तथा ऐकान्तिक सुख की भी ।

अतएव जीवन और बलिदान का, तथा यज्ञ रहित जीवन पद्धति और यज्ञ पर आधारित जीवन पद्धति का समन्वय करते हुए भगवान कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

मुझ में मन स्थिर कर, जो मुझमें नित्य युक्त हो, उपासना करते हैं परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी, वे मुझे योगियों में सर्वोत्तम मान्य हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

जो परन्तु अक्षर (अविनाशी) अनिर्देश्य जिसको निर्देशित नहीं करा जा सकता (जिसको बताया नहीं जा सकता) अव्यक्त (जो दिखता नहीं) की उपासना करते हैं, उस सर्वव्यापी, अचिंत्य (जिसका चिन्तन नहीं किया जा सकता) कूटस्थ (विकार रहित) अचल, नित्य ब्रह्म की, नियमन कर के इन्द्रियों के समूह का; (सब में) समबुद्धि रखते हुए, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं; सब प्राणियों के हित में लगे हुए।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

क्लेश विशेष उन्हें, अव्यक्त में आसक्त चित्त जिनका, क्योंकि अव्यक्त की गति देहधारियों द्वारा कठिनाई से पाई जाती है।

जो व्यक्ति अपना नियत कर्म छोड़कर अपने आप को प्राणीमात्र के हित के लिये समर्पित करते हैं उन्हें बहुत कष्ट होता है कारण कि जीवन की गति उनके द्वारा कठिनाई से जानी जाती है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

जो परन्तु सब कर्मों को मेरे अर्पण कर मेरे में प्रवृत्त हुए अनन्य योग से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं उन मुझ में चित्त लगाने वालों का मैं मृत्युमय संसार से शीघ्र ही उद्धार करने वाला होता हूँ, हे पार्थ !

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

मुझ में ही मन लगा, मुझ में बुद्धि को रख, मुझ में ही निवास करेगा ऊपर उठकर नहीं सन्देह ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

यदि चित्त को मुझ में स्थिरता पूर्वक लगाने में समर्थ नहीं है तो अभ्यास योग द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा कर, धनंजय !

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अभ्यास में भी असमर्थ है तो मेरे लिये कर्म प्रवृत्त (कर्म करने वाला) हो। मेरे लिये कर्मों को करता हुआ भी तू सिद्धि को प्राप्त होगा ।

उपरोक्त श्लोक का भाव १८।४५ में फिर दोहराया गया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धं लभते नरः— अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

यदि यह भी करने में असमर्थ हो (अर्थात् कर्म द्वारा सिद्धि प्राप्त करने में भी असमर्थ हो) तो भी मेरे कर्मयोग का आश्रय लिये हुए सब कर्मों के फल का त्याग कर, संयत आत्मवान हो ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान, अभ्यास से । ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्म फल त्याग, त्याग से शीघ्र ही शान्ति (प्राप्त होती है) ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रिय ॥१४॥

सम्पूर्ण भूत प्राणियों के प्रति द्वेष भाव से रहित (सबका) मित्र और और दयाभाव रखने वाला, ममता रहित, निरहंकारी, सुख-दुःख में सम,

क्षमावान, सन्तुष्ट, नित्य युक्त, संयत आत्मवान्, दृढ़ निश्चयी, मन और बुद्धि मुझे अर्पित, (ऐसा) मेरा भक्त वह मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे संसार उद्विग्न नहीं होता और जो संसार से उद्विग्न नहीं होता और जो हर्ष, क्रोध, भय (आदि) उद्वेगों से और मुक्त है वह मेरा प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

अपेक्षा से रहित पवित्र, दक्ष, उदासीन व्यथा रहित, सारे आरम्भों को त्यागने वाला (कार्य आरम्भ करते समय की अनिश्चितता को त्यागने वाला) जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है, शुभ और अशुभ को पूर्णरूप से त्याग देता है (शुभ अथवा अशुभ की प्राप्ति पर मन को सम्यक अवस्था में रखता है) वह भक्त मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

सम (समभाव से स्थिति) शत्रु तथा मित्र में और तथा मान और अपमान में एवम् शीत-ऊष्ण सुख-दुःख में समान, आसक्ति रहित है; तुल्य (बराबर मानने वाला) निन्दा और स्तुति को, मौनी (संयत वाक्) जिस किसी भी भांति (सर्वप्रकार से) सन्तुष्ट; अनिकेत (गृह विहीन-गृह पर आश्रित नहीं) ऐसा स्थिर बुद्धि भक्तिवान पुरुष मुझे प्रिय है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

और जो अमृतमय धर्म (भक्ति) जैसा ऊपर कहा गया है की श्रद्धावान होकर उपासना करते हैं, मेरे परायण हैं वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

* * *

कार्यं करण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।२०।।

कार्य विभिन्न साधन तथा कर्तापन के भाव की उत्पत्ति का कारण प्रकृति कही जाती है । पुरुष सुख दुःखों को भोगने में हेतु कहा जाता है ।
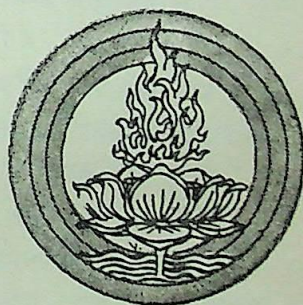
तेरहवाँ अध्याय

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

यह शरीर, कौन्तेय ! क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है । जो इसको जानता है उसको तत्वज्ञ ज्ञानी जन क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

हे भरत वंशी ! और क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान सब क्षेत्रों में । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो तत्वज्ञान है, वह ज्ञान है । (ऐसा) मेरा मत है ।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

यह क्षेत्र (१) जो और जैसा है, (तथा) (२) जिन विकारों युत है (तथा) (३) जिस से जो और जैसा हुआ है और (४) जैसा प्रभाव संपन्न यह क्षेत्रज्ञ है वह सब संक्षेप में मुझ से सुन ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से गाया गया है, अनेक प्रकार के वेद मन्त्रों से पृथक-पृथक (गाया गया है) और ब्रह्म सूत्रों द्वारा युक्ति युक्त और निश्चित पदों द्वारा भी (कहा गया है) ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (ब्रह्म अथवा प्राण) दस इन्द्रियाँ एक मन, पाँच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, तथा स्थूल शरीर (जिसमें यह सब महाभूत और इन्द्रियाँ तथा उनके विषय ऐक्य भाव से विद्यमान हैं) चेतना और धृति यह क्षेत्र संक्षेप में विकारों सहित कहा गया है ।

इस प्रकार तीसरे श्लोक में जो क्षेत्र के विषय में कहा गया—

"तत्क्षेत्रं यच्च याहक्क यद्विकारि" उसका वर्णन उपरोक्त श्लोकों

में किया गया है। अब भगवान इस शरीर में स्थित जिन गुणों द्वारा ब्रह्म (मायातीत, अव्याकृत प्राण) का ज्ञान होता है उन गुणों का वर्णन करते हैं।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौच स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

अमान (दूसरों द्वारा सम्मानित होने के भाव का अभाव) दम्भ (जो गुण स्वतः में नहीं है उनको मिथ्या चरण द्वारा दिखाना) का अभाव, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की उपासना, शुद्धि, स्थिरता, आत्म निग्रह।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

इद्रियों के विषय में वैराग्य और अहंकार का भी अभाव, जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, रोग के दुखों में दोषों का बार-बार देखना।
(दुःखं जन्म, दुःखं मृत्यु, दुःखं जरा, दुःखं व्याधयः—शंकराचार्य)

असक्तिरनभिष्वङ्ग पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

अनासक्त और अलिप्त रहना पुत्र, स्त्री, गृह आदि में, नित्य समचित्त रहना इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मुझ में अनन्य योग से (उत्पन्न) अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त स्थान पर वास, तथा जन समुदाय में अरुचि।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति, तत्वज्ञान का चिन्तन यह सब ज्ञान है जो इसके विपरीत है वह अज्ञान है ऐसा कहा है।

शरीर और उसके विकार, तथा जिन गुणों से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है उनका वर्णन करने के उपरान्त गीता अब ब्रह्म अर्थात् इस शरीर में स्थित प्राण (अव्यक्त) का वर्णन करती है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जो जानने के योग्य है उसको भली प्रकार कहूँगा—जिसे जान कर मनुष्य अमृत को भोगता है वह अनादि पर ब्रह्म न सत् ही न असत् कहा जाता है (इस श्लोक द्वारा गीता ब्रह्मज्ञान का विषय आरम्भ करती है तथा जिसे यहाँ जो "न सत न तत् असत् उच्यते" कहा गया उसको ही पूर्ण विवेचन के उपरान्त "ओम् तत् सत्" कहा गया है। विचारणीय है कि ब्रह्म को 'न सत् न तत् असत् उचचयते" कहना मात्र जिज्ञासा जाग्रति के लिये है। सब उपनिषद् और गीता ब्रह्म को सत् ही प्रतिपादित करते हैं)।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३।।

सब ओर हाथ, पैर वाला सब ओर नेत्र, सिर, मुख, वाला तथा सब ओर कान वाला है, जगत में सबको ढक कर यह स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१४।।

(इसमें) सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है (किन्तु) सब इन्द्रियों से हीन है। अनासक्त, फिर भी सबका पोषण करने वाला है। निर्गुण होकर भी गुणों को भोगने वाला है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१५।।

बाहर और भीतर सब प्राणियों के, अचर भी और चर भी, सूक्ष्म होने के कारण जानने में नहीं आता, दूर भी स्थित है, और वह पास भी।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।१६।।

अविभक्त होकर भी प्राणियों में विभक्त होकर वह स्थित है। वह जानने के योग्य सब भूतों का पोषण करने वाला संहारकर्त्ता और उत्पन्न करने वाला है। (प्राण से ही प्राणी उत्पन्न होता है प्राण ही उसका पोषण करता है और प्राण द्वारा ही वह प्राण में विलीन कर लिया जाता है।

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत,
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना। २।२८

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

ज्योतियों की ज्योति, अन्धकार से परे कहा जाता है वह ज्ञान, ज्ञेय, (जानने योग्य) ज्ञान गम्य (ज्ञान से ही जाना जाता है) सब के हृदय में स्थित है ।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार (१) क्षेत्र तथा (२) ज्ञान (३) इसके विपरीत जो है वह अज्ञान) और (४) ज्ञेय (जानने योग्य ब्रह्म) संक्षेप से कहा गया है मेरा भक्त इसको जान कर मेरे भाव को प्राप्त होता है ।

गीता के अनुसार उपरोक्त श्लोकों में पुरुष का वर्णन किया गया है । गीता का पुरुष, स्थूल शरीर, ज्ञान और प्राण का समूह है । यह परा और अपरा प्रकृति के संयोग की स्थिति मात्र है ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि जानो और सब विकारों तथा गुणों को भी जानो प्रकृति से ही उत्पन्न हुए ।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य, विभिन्न साधन, तथा कर्त्तापन के भाव की उत्पत्ति का कारण प्रकृति कही जाती है । पुरुष सुख दुःखों को भोगने में हेतु कहा जाता है ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही भोगता है प्रकृति से उत्पन्न गुणों को, कारण है गुणों का संग ही अच्छी बुरी योनियों (प्रकृतियों) में जन्म लेने में । किन्तु इन सबसे श्रेष्ठ—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

उपद्रष्टा (साक्षी) अनुमन्ता (अनुमति देने वाला) भर्ता (पोषण करने वाला) भोक्ता महेश्वरम् परमात्मा (अधियज्ञ) ऐसा भी और कहा गया है, इस देह में पर पुरुष को ।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।२३।।

जो इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जानता है वह सब प्रकार से रहता हुआ भी फिर नहीं जन्मता ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।२४।।

ध्यान द्वारा आत्मा में देखते हैं, कितने ही आत्मा को आत्मा से, दूसरे ज्ञानयोग द्वारा और कितने ही कर्म योग द्वारा (देखते हैं) ।

'(सर्व भूतस्थं आत्मानम् सर्व भूतानि च आत्मनि)' (६।२९)

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।२५।।

अन्य लोग परन्तु न जानते हुए, सुनकर ही दूसरों से, उपासना करते हैं; वे भी और तर जाते हैं मृत्यु से; सुनने में लगे हुए ।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।२६।।

जितना जो कुछ भी उत्पन्न होता है समर्थवान पदार्थ स्थावर जङ्गम (में) इस सबको क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही जान। (यह गीता के अनुसार जन्म की परिभाषा है । जीवित शरीर और ईश्वर का संयोग ही जन्म है। इसके पूर्व की स्थिति तो परा और अपरा प्रकृति का संयोग मात्र है । पार्थिव शरीर का जन्म, मरण, और अस्तित्व गीता चिन्तन का विषय ही नहीं है) ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२७।।

समभाव से स्थित है परमेश्वर । नष्ट होते हुए इन सब भूतों में जो अविनाशी परमेश्वर को देखता है वही (यथार्थ) देखता है ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

समान देखता हुआ क्योंकि सब में समभाव से स्थित ईश्वर को, आत्मा द्वारा आत्मा को नष्ट नहीं करता, अतः वह प्राप्त होता है परम गति को।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

प्रकृति से ही जो और कर्मों को किया हुआ सब प्रकार से देखता है तथा आत्मा को अकर्त्ता (देखता है) वही (यथार्थ) देखता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

सब भूतों के पृथक-पृथक भाव (जो) एक में स्थित देखता है, उस एक से ही सब का विस्तार देखता है तब वह ब्रह्म को पाता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

अनादि होने से, निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होकर भी कौन्तेय न करता है न लिप्त होता है। (जीवन संघर्ष में अधियज्ञ का भाव किसी भी व्यक्ति अथवा जाति में कितना भी प्रबल हो पर उसी के आधार पर यदि कोई व्यक्ति अथवा जाति इसी कारण से जीवन में सफल होगा अथवा जाति रणक्षेत्र में विजयी होगी तो यह उस व्यक्ति तथा उस जाति का भ्रम मात्र है। इतिहास साक्षी है कि हिन्दू जाति के पराभव का इतिहास ईश्वर भाव की कमी के कारण नहीं, तोपों और बन्दूकों की कमी के कारण लिखा गया। इसके साथ ही—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार से सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण से नहीं लिप्त होता है। इसी प्रकार सर्वत्र देह में स्थित आत्मा (अविनाशी ब्रह्म का स्वभाव, बुद्धि से श्रेष्ठ तत्व, समदर्शन जिसके साक्षात्कार का साधन है) नहीं लिप्त होता (जीवन संघर्ष में)। (आत्म भाव के कारण, अध्यात्म धारणा के कारण जीवन संघर्ष सरल नहीं होता है। जीवन में सफल

होने के लिये एक अध्यात्मवादी को भी उतना ही श्रम करना पड़ता है, जितना कि एक आत्महीन भोगवादी को करना पड़ता है। किन्तु,

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

जैसे प्रकाशित करता है एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोक को, प्रकाशित करता है वैसे ही क्षेत्र को क्षेत्री (परमात्मा) हे भारतवंशी !

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को ज्ञान चक्षु द्वारा जो जानते हैं वे, भूत प्रकृति से मोक्ष और परब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

* * *

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ब्रह्म की प्रतिष्ठा मैं, अमृत की भी, अविनाशी की भी, सनातन धर्म की भी और परम सुख की भी ।

चौदहवाँ अध्याय

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

'परम' फिर कहूँगा ज्ञानों में, उत्तम ज्ञान; जिसे जान कर समस्त मुनि, इस संसार में परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लिये हुए मेरे समान धर्मी होने के भाव को प्राप्त हुए, सृष्टि के आदि में जन्म नहीं लेते तथा प्रलय काल में व्यथा नहीं पाते।

पिछले अध्याय में भगवान ने एक महत्वपूर्ण उद्घोष किया कि—

कार्य करण कर्तृत्वे हेतु प्रकृति रुच्यते।
पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥१३।२०॥

"कार्य करण और कर्त्तापन के भाव को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कहलाती है। पुरुष सुखः दुखों के भोगने में हेतु कहा जाता है।

इस प्रकार पुरुष के असीम पौरुष को जगाया गया है तथा इसके उपरान्त दो वास्तविकताओं का ज्ञान भी कराया गया कि— (१) ईश्वर सम भाव से सब में स्थित है (२) जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित रहता हुआ आत्मा (भी) लिप्त नहीं होता है इसी प्रकार परमात्मा भी देह में रहकर न करता है न देह में लिप्त होता है।

इस प्रकार से स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि पुरुष और प्रकृति के संघर्ष में आत्मा और ईश्वर निर्लिप्त रहते हैं। इसी वास्तविकता का व्यवहारिक रूप है कि जीवन संघर्ष में आत्मा और परमात्मा पूर्णतया अकर्त्ता रहते है।

"यः पश्यति स पश्यति" (जो इस प्रकार से देखता है वही यथार्थ देखता हैं)।

पुरुष में पौरुष जाग्रत करने के लिये उसे पूर्णतया स्वावलम्बी बनाने के लिये यह एक अमूल्य प्रेरणादायक मन्त्र है ('यः पश्यति स पश्यति')

इतना कहकर भी भगवान पुरुष को असहाय अवस्था में नहीं छोड़ते और अपने समान धर्मा बलि पन्थी व्यक्तियों को सुख दुःख सहते हुए भूत प्रकृति से (भोगवाद से) मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभव: सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

मेरी प्राण रूपा परा प्रकृति परब्रह्म है। इसमें मैं (अधियज्ञ) बीज (धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग को) रोपता हूँ। इसी से सब भूत प्राणी संभव होते हैं।

धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग से शून्य प्राणी की स्थिति तो परा और अपरा प्रकृति के संयोग से उत्पन्न भूत प्रकृति की स्थिति है। प्राण होते हुए भी प्राण हीन। वह केवल क्षेत्र है परा और अपरा प्रकृति का मिश्रण मात्र है। उसका होना न होना बराबर है। वास्तव में क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ के, अधियज्ञ के संयोग से ही उसका वास्तविक जन्म है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: संभवन्ति या: ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता ॥४॥

समस्त प्रकृतियों में कौन्तेय, जो विभूतियाँ संभावित होती हैं उनकी ब्रह्म महान् प्रकृति है, मैं बीज स्थापन करने वाला पिता हूँ।

गीता में योनि शब्द का प्रयोग कुछ श्लोकों में किया गया है। यद्यपि गीता में इसका अर्थ स्पष्ट है पर सब भाष्यकारों द्वारा इसका अर्थ किया ही नहीं गया। उनके द्वारा योनि का अर्थ योनि ही ग्रहण किया गया है।

गीता के अनुसार योनि शब्द प्रकृति का समवाच्य अथवा शब्द वाच्य है। अध्याय ७ में परा और अपरा प्रकृति का वर्णन करने के उपरान्त भगवान कहते हैं।

'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणित्युपधारय।' ७।६

इन दोनों प्रकृतियों से सब भूत प्राणियों को जानो। इस श्लोकांश में योनि शब्द का अर्थ प्रकृति ही मुख्यतया सभी भाष्यकारों द्वारा ग्रहण किया गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त भाष्यकारों द्वारा अन्य श्लोकों में योनि शब्द का अर्थ योनि ही किया गया और पाठक एक दुविधाजनक स्थिति में रह जाता है।

'मम योनिर्महद्ब्रह्म' का अर्थ 'प्रकृति मेरी योनि है'। यह भाष्यकारों द्वारा मान्य अर्थ है। जबकि उपरोक्त श्लोकांश केअनुसार ही अर्थ ग्रहण किया जाय तो स्पष्ट अर्थ होता है—मेरी प्रकृति महद् ब्रह्म अर्थात् परब्रह्म है।

गीता 'मेरी प्रकृति' का अर्थ भी स्पष्ट करती है "प्रकृतिं विद्धि में पराम्" जीव भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत (७।५)। हे महाबाहो

इससे दूसरी को मेरी जीव रूपा परा प्रकृति जानो जिससे जगत धारण किया जाता है अतएव मम योनि का अर्थ परा प्रकृति प्राण गीता द्वारा ही प्रतिपादित है।

उपरोक्त श्लोक अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यह श्लोक स्पष्टरूप से प्रतिपादित करते हैं कि परा प्रकृति प्राण ही पर ब्रह्म है। इसके द्वारा गीता चिन्तन की अनेक विसंगतियाँ स्वतः ही दूर हो जाती हैं। यह स्पष्टीकरण, हमारी वर्तमान प्रचलित धारणा कि ईश्वर और ब्रह्म एक है, के विपरीत है।

इसके उपरान्त जो परा प्रकृति अथवा ब्रह्म जिससे 'जगत धारण किया जाता है उसे देहधारी कह कर गीता उस देहधारी का त्रिगुणात्मक माया से सम्बन्ध का वर्णन करती है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

सत्व, रज, तम, यह प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण; इस देह में बांध लेते हैं, हे महाबाहो ! अविनाशी देहधारी (प्राण) को।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

इन गुणों में सत्त्व गुण (शुद्ध सामर्थ्य जनित गुण) निर्मल होने के कारण प्रकाश देने वाला तथा निर्विकार है, (यह) सुख के संग से बांधता है, ज्ञान के संग से बांधता है (देहधारी को)। हे निष्पाप अर्जुन !

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

रजोगुण को रागात्मक जानो। तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न, यह बाँधता है कर्म के प्रति आसक्ति से देहधारी को।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

तम की उत्पत्ति अज्ञान से जानो यह सब देहधारियों को मोहित करता है (तथा) आलस्य, नींद, प्रमाद द्वारा बाँधता है, हे भारत !

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

सतोगुण सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में, (और) हे भरतवंशी ! ज्ञान को आवृत करके तो तमोगुण प्रमाद में लगाता है फिर।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्व (प्रबल) होता है; भारत ! रज सत्व दबने पर तमोगुण और वैसे ही तम सत्व को दबाकर रजोगुण (प्रबल होता है)।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

इस देह में और इसके सब द्वारों में (इन्द्रियों में) जब ज्ञान का प्रकाश उपजता है, तब ऐसा जानना चाहिये कि सतोगुण बढ़ा है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

लोभ, प्रयत्नशीलता, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा (अभिलाषा) रजोगुण की बुद्धि पर यह उत्पन्न होते हैं; हे भरतश्रेष्ठ !

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

प्रकाशहीनता (अज्ञान)। अकर्मण्यता, प्रमाद, मोह, यह सब ही तमोगुण की वृद्धि होने पर उत्पन्न होते हैं; हे कुरुनन्दन !

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

जब यह देहधारी सत्व गुण की वृद्धि के समय प्रलयकाल (अन्तकाल-जीवन के विषय में अन्तिम निर्णय लेने की घड़ी) को पाता है तब तो उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल लोकों को पाता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुण में प्रलयकाल (अन्तकाल) को पाकर कर्मासक्त व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, तमोगुण में लीन हुआ व्यक्ति मूढ़ प्रकृतियों में जन्म लेता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

पुण्य कर्म का कहा गया है सात्विक और निर्मल फल, राजस कर्म का तो फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान (कहा गया है) ।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रनादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्व से उत्पन्न होता है ज्ञान, रज से लोभ ही और; प्रमाद मोह तम से उत्पन्न होता है तथा अज्ञान ही और ।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

ऊपर उठ जाते हैं सत्व में स्थित (व्यक्ति) मध्य में स्थित रहते हैं राजसी, निकृष्ट गुण की वृत्तियों में स्थित नीचे जाते हैं तामसी ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

नहीं (कोई) अन्य, गुणों के अतिरिक्त कर्त्ता और गुणों से श्रेष्ठ जो (परम भाव) है उसे जानता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है ।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

जो देहधारी इन तीन गुणों को पार करके, जो देह के साथ ही उत्पन्न होते हैं, जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखों से छूट कर अमृत को प्राप्त होता है ।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

किन-किन लक्षणों से युक्त होता है तीन गुणों से अतीत व्यक्ति, प्रभो ! उसका क्या आचरण होता है और किस प्रकार वह इन तीन गुणों का अतिक्रमण करता है ।

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति, और मोह (सत रज और तम से उत्पन्न भाव) के प्रकट होने पर वह उनसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होने पर आकांक्षा नहीं करता (दूर हुए प्रकाश प्रवृत्ति एवम् मोह में सुख वृद्धि करके उनकी इच्छा नहीं करता)।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्ते इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

उदासीन की भाँति स्थित होकर गुणों द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता, गुण ही कार्य कर रहे हैं ऐसा समझता हुआ जो स्थित रहता है और डोलता नहीं है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

दुःख सुख में सम, स्वस्थ, मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण को एक जैसा समझने वाला प्रिय और अप्रिय में संतुलित धीर पुरुष आत्म तत्व की निन्दा और स्तुति में समान रहने वाला ।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मान और अपमान में भी संतुलित शत्रु और मित्र पक्ष को भी सम समझने वाला समस्त आरम्भों का परित्यागी (यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्प वर्जिताः ४।१९) गुणातीत कहा जाता है ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

और जो अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरी सेवा करता है वह इन तीन गुणों को पार कर ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।२७॥

ब्रह्म (प्राण) की प्रतिष्ठा मैं (प्राणोत्सर्ग) अमृत (अमर जीवन) की भी, अविनाशी की भी, सनातन धर्म की भी और परम सुख की भी ।

* * *

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं क्षर से भी उत्तम हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ इसलिये लोक और वेद में प्रसिद्ध हूँ, पुरुषोत्तम !
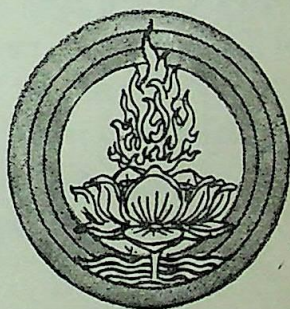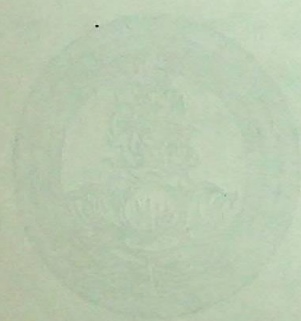
पन्द्रहवाँ अध्याय

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (१४।२७)

अब इस सूत्र की व्याख्या रूप यह पन्द्रहवां अध्याय आरम्भ किया जाता है—
(मधुसूदन सरस्वती)

तेरहवें अध्याय में शरीर, प्रकृति, आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध कहा गया, चौदहवे अध्याय में ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध बताया गया, अब, गीता ब्रह्म और ईश्वर के सम्बन्ध का वर्णन करती है।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

ऊपर मूल वाले (जिसका मूल ईश्वरीय है) नीचे जाने वाली शाखाओं वाले जिस पीपल के पेड़ का अव्यय (ब्रह्म) कहते हैं तथा वेद जिसके पत्तो हैं; उसको जो जानता है वह ज्ञानवान है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

इस ब्रह्म वृक्ष की शाखाएँ नीचे और ऊपर फैली हुई हैं जो तीनों गुणों में बढ़ी हुई हैं (चित्त वृत्तियाँ ही इसकी शाखाएँ हैं कुछ चित्त वृत्तियाँ अधोगामी हैं कुछ ऊर्ध्वगामी हैं) विषय उनकी कोपलें हैं। मनुष्य लोक में कर्म के अनुसार बाँधने वाली जड़े नीचे फैली हुई हैं। (मनुष्य लोक में यह ब्रह्म कर्म रूपी जड़ों से स्थिर है ('कर्म ब्रह्मोभवं विद्धि ३।१२)।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

इसका रूप (जैसा कहा गया है) यहाँ वैसा नहीं पाया जाता है (कारण) इसका न आदि है न अन्त है और न आधार स्थान है। दृढ़ मूल वाले इस अश्वत्थ का अनासक्ति रूपी दृढ़ शस्त्र से छेदन कर (विश्लेषण कर)।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

फिर उस पद को (ब्रह्मपद को) भली प्रकार खोजना चाहिये जिसमें पहुँचे हुए फिर लौट कर नहीं आते। और जिससे यह पुरातन प्रवृत्ति फैली हुई है तथा मैं उस ही आदि पुरुष की शरण हूँ (उस समस्त विश्व के आदि कारण पुरुष का अन्वेषण और उसे प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त होता हूँ—
(अ० धो०)

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

मान मोह से रहित आसक्ति जनित दोष को जीत लेने वाले सदा अध्यात्म में स्थित, कामनाओं से मुक्त, सुख दुःख नाम वाले द्वन्द्वों से मुक्त ज्ञानी जन उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

न उसको प्रकाशित कर सकता है सूर्य न चन्द्र न अग्नि। जिसको प्राप्त होकर नहीं लौटते मनुष्य वह मेरा परम धाम है।

(अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ८।२१॥)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मेरा अंश इस जीव लोक में यह सनातन जीवभूत प्राण रूपा परा प्रकृति, अर्थात् ब्रह्म है। मन के सहित छः इन्द्रियों को अपरा प्रकृति में स्थित हुआ खींचता है (प्राण, मन और इन्द्रियों को सदा जीवित रहने को बाध्य करता है)।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

ईश्वर किन्तु जिस शरीर को प्राप्त होता है तथा जिस शरीर से ऊपर उठता है ईश्वर, ग्रहण करके उनको साथ लेकर जाता है, जैसे वायु गन्ध के स्थान से वायु को।

ईश्वर अधियज्ञ प्राणोत्सर्ग का भाव जिस शरीर से ऊपर उठता है अथवा जिसमें व्याप्त होता है, उस व्यक्ति का मन तथा इन्द्रियां इतनी सरलता से ईश्वर की ओर प्रयाण करती हैं, जितनी सरलता से वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

यह ब्रह्म अथवा परा प्रकृति कान, नेत्र और त्वचा को तथा रसना, नासिका और मन को आश्रय बना कर ही विषयों का सेवन किया करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

उत्थान करते हुए भी, शरीर में स्थित रहते हुए भी, अथवा विषय भोगते हुए को भी, गुणों से युक्त हुए को भी, अज्ञानी जन नहीं जानते हैं जानते हैं ज्ञान के नेत्रों वाले।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानोनैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यत्नशील योगी जन इस को आत्मा में स्थित देखते हैं परन्तु यत्न करने पर भी आत्मज्ञानहीन, अविवेकी इस को नहीं देख पाते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जो सूर्य में स्थित तेज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है, जो चन्द्र में है, जो अग्नि में है, उस तेज को तू मेरा ही जान।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

पृथ्वी में प्रवेश करके धारण करता हूँ सब भूतों को अपने ओज (प्राणबल) से, पुष्ट करता हूँ सब औषधियों को रस रूप सोम होकर।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं वैश्वानर अग्नि होकर सब प्राणियों की देह में रहता हूँ। प्राण और अपान वायु से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

मैं सबके हृदय में रहता हूँ। मुझ से ही स्मृति, ज्ञान की उत्पत्ति, अपोहन (शंका तर्क का निराकरण) सब ज्ञानों द्वारा जानने योग्य हूँ।

वेदान्त कर्त्ता (ज्ञान को अन्तिम रूप प्रदान करने वाला) और सब ज्ञानों का जानने वाला में हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक में क्षर (अधिभूतंक्षरों भावः) और अक्षर (अक्षरं ब्रह्म परमं ८।३) यह दो पुरुष हैं। नाशवान (क्षर) हैं सब भूत प्राणी और जो कूटस्थ (सर्वोपरि, शिखिरस्थ, निर्विकार है,) उसे अक्षर ब्रह्म कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

परन्तु उत्तम पुरुष तो और ही है जो परमात्मा कहलाता है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में स्थिर होकर सबका भरण-पोषण करता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं क्षर से अतीत हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ। इसलिये लोक और वेद में प्रसिद्ध हूँ, पुरुषोत्तम।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

जो भ्रम रहित व्यक्ति इस प्रकार मुझे जानता है, पुरुषोत्ताम; वह सर्वज्ञ सब प्रकार से मुझे भजता है, हे भरतवंशी !

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इस प्रकार यह गूढ़तम शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है, हे निष्पाप अर्जुन ! इसको जान कर बुद्धिमान पुरुष कृतकृत्य हो जाता है, हे भरतवंशी !

यह गूढ़तम ज्ञान है कि सब नाशवान प्राणियों से और अविनाशी परा प्रकृति, प्राण अथवा ब्रह्म से ईश्वर अधियज्ञ प्राणोत्सर्ग का भाव श्रेष्ठ है। यह जान कर बुद्धिमान धन्य हो जाता है।

* * *

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥१६।२१॥

तीन प्रकार के नरक के यह द्वार आत्मा का नाश करने वाले काम, क्रोध, और लोभ, अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिये ।
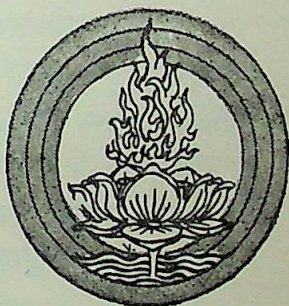
सोलहवाँ अध्याय

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

निर्भयता, शुद्ध सामर्थ्य, ज्ञान योग में व्यवस्थित निष्ठा (अध्याय १३, श्लोक ७-११ ज्ञान योग की स्थिति), दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय तप और सरलता ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निन्दा त्याग, भूतदया, अलोलुपता, कोमलता, लज्जा, अचपलता ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवोमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, अद्रोह, अपने को अत्यन्त पूज्य न मानना (यह चिन्ह) होते हैं संपदा दैवी को प्राप्त हुए पुरुष में भारत !

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

दम्भ (ढोंग) दर्प (मिथ्याभिमान) अभिमान और क्रोध, कठोरता भी, और अज्ञान (यह चिन्ह) आसुरी संपदा को प्राप्त हुए पुरुष में होते हैं ।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी संपत् मोक्ष के लिए और आसुरी बन्धन के लिये मानी गई है । हे अर्जुन ! तू दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुआ है, शोक मत कर ।

द्वौ भूतसर्गौं लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

दो प्रकार की है, प्राणियों की सृष्टि इस लोक में दैवी और आसुरी । दैवी विस्तार पूर्वक कही जा चुकी है, आसुरी को पार्थ (अब) मुझसे सुन ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते असुर जन, न उनमें शुद्धता होती है न आचार (चरित्र) और न सत्य ही होता है ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

असत्य है, बिना आधार के है, वे कहते हैं जगत बिना ईश्वर के हैं, बिना किसी प्रकार के क्रम के यह उत्पन्न हुआ है (यह) काम भोगों के लिये है, इसके अतिरिक्त और क्या है।

(ईश्वर से रहित है, परस्पर में किसी प्रकार के यथार्थ सम्बन्ध के बिना, कर्म सम्बन्ध के बिना, अकस्मात उद्‌भूत हुआ है, केवल कामना ही इसका कारण बीज और नियामक तत्व है और कुछ नहीं—श्री अरविन्द घोष)।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

इस दृष्टि का अवलम्बन लेकर वे नष्टात्मा अल्पबुद्धि उत्पन्न होते हैं, उग्र कर्म करने वाले, नाश करने के लिये, जगत का अहित करने वाले।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्‌गृहीत्वासद्‌ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

अशुद्ध आचरण वाले, कभी न पूरी होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, दम्भ, मान, मद से भरे हुए, मोह से ग्रहण करके असत् आग्रहों को कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

प्रलय के अन्त तक (रहने वाली) अनन्त चिंताओं के आश्रित (से ग्रसित) काम भोगों में रत, इन काम भोगों को हो, इतना ही है ऐसा निश्चित कहने वाले।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

शतशः आशा पाशों से बद्ध काम और क्रोध के परायण, काम भोगों को भोगने के लिये अन्याय पूर्वक अर्थ संचय की इच्छा करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

यह आज मैंने प्राप्त किया है, इस मनोरथ को प्राप्त करूँगा, यह धन है, फिर मेरे लिये, यह भी हो जायगा (भविष्य में)।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

यह शत्रु मारा; दूसरे शत्रुओं को भी मारूँगा; मैं ईश्वर, मैं भोगी तथा मैं सिद्ध बलवान और सुखी हूँ। (अपने आपको ईश्वर कहना निकृष्टतम पाप है। भगवान अपने आपको अधियज्ञ अर्थात् धर्म रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग से एकात्म करके गीता का उद्घोष करते हैं। इस प्रकार गीता का अहम् केवल अधियज्ञ ही गीता का ईश्वर है।)

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

मैं धनाढ्य और ऊँचे कुल में उत्पन्न हुआ हूँ; मेरे समान अन्य दूसरा कौन है मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आनन्द करूँगा ऐसा अज्ञान से मोहित व्यक्ति मानते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेक प्रकार से विक्षिप्त चित्त; मोह के जाल में फँसे हुए काम भोगों में अत्यन्त आसक्त जन घोर अपवित्र नरक में पड़ते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने आप को श्रेष्ठ मानने वाले, नम्रता शून्य, धन और मान के मद से युक्त, नाम मात्र के यज्ञों द्वारा दम्भ से, बिना विधि के यज्ञ करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का आश्रय लिये हुए मुझ से और मेरी आत्मा जो दूसरों की देह में स्थित है द्वेष करते हैं; और वे दूसरों की निन्दा करने वाले होते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

उन द्वेषी क्रूर कर्म करने वाले नराधमों को बार-बार मैं संसार में अशुभ आसुरी प्रकृतियों में ही गिराता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरी प्रकृति को प्राप्त हुए मूढ़, जन्म-जन्म में मुझे न पाकर कौन्तेय ! उससे भी अधम गति को प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।२१।।

तीन प्रकार के नरक के यह द्वार, आत्मा का नाश करने वाले, काम, क्रोध और लोभ अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।२२।।

इन तीनों अन्धकार के द्वारों से मुक्त व्यक्ति आचरण करता है आत्मा के कल्याण के लिये, प्राप्त होता है परम गति को।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।२३।।

जो शास्त्र के विधान को छोड़कर, कामना के आधीन ही व्यवहार करता है न उसे सिद्धि मिलती है, न सुख, न परम गति।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।२४।।

अतएव कार्य और अकार्य के निर्णय में वे शास्त्र ही प्रमाण हैं। इस मृत्युलोक में शास्त्रोक्त विधान (विधि और निवेध) को जानकर (वे ही) कर्म करने योग्य हैं।

सब प्रकार से (१) मनुष्य शरीर, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के सम्बन्ध के विषय में ज्ञान देकर (२) प्रकृति से मुक्त होने का उपाय बताकर (३) ब्रह्म और ईश्वर का भेद समझाकर, गीता संसार की एक वास्तविकता प्रस्तुत करती है कि संसार में भले और बुरे दोनों प्रकार के लोग हैं। इस स्वप्न लोक में विचरने से कोई लाभ नहीं कि "बुरा न देखो, बुरा न सुनो, बुरा न बोलो"। गीता का इससे कहीं अधिक व्यवहारिक ज्ञान है कि बुरे को देखो, बुरे को पहचानो, बुरे की सुनो किन्तु उसकी बात न मानो, कार्य अकार्य का निर्णय शास्त्रोक्त विधान द्वारा करो।

* * *

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥१७।२८॥

अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो किया हुआ कर्म असत् ऐसा कहा जाता है पार्थ, न वह है मरने पर न यहाँ ।
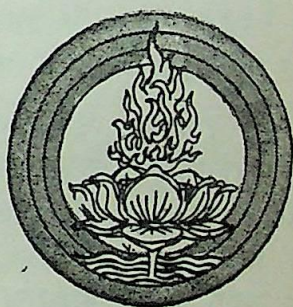
सत्रहवां अध्याय

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।।१।।

जो शास्त्र विधि को त्याग कर श्रद्धा से युक्त हो यजन करते हैं उनकी निष्ठा परन्तु कौन सी है, हे कृष्ण ! सात्विक, राजसी, अथवा तामसी ।

अर्जुन ने अब प्रश्न किया "त्रिगुणात्मक माया के वशीभूत हो मनुष्य असुर हो जाता है, उनसे बचने का आपने एक ही उपाय बताया कि कार्य और अकार्य का निर्णय शास्त्रानुसार ही करना चाहिये । परन्तु कुछ लोग शास्त्र विधि को त्याग कर भी लोकोपकारी कर्म करते हैं, क्या उनकी श्रद्धा भी माया के तीन गुणों के आधीन होती है ?

श्री भगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।२।।

(जो शास्त्र विधि का त्याग करते हैं, उनकी ही नहीं, सबकी) तीन प्रकार की होती है श्रद्धा देहधारियों की उनके स्वभाव से उत्पन्न, सात्विकी राजसी तथा तामसी और ऐसे ही उसको (श्रद्धा को) तू सुन ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।३।।

जीवन शक्ति के अनुरूप होती है सब की श्रद्धा, भारत ! श्रद्धामय है यह पुरुष, जो जैसी श्रद्धा वाला होता है, वह वैसा ही होता है ।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।४।।

पूजते हैं सात्विक जन देवताओं को (माता-पिता आचार्य तथा अन्य श्रेष्ठ जनों को) राजसी जन (पूजते हैं) यक्ष और राक्षसों को (धनवानों और बलवानों को) प्रेतों और भूतों के समुदाय की आराधना करते हैं, दूसरे तामसी जन ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।५।।

जो शास्त्र के अनुसार नहीं ऐसा घोर तप जो जन तपते हैं, दम्भ अहंकार से युक्त, काम, राग, बल से सम्पन्न ।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

कृश करने वाले हैं शरीर में स्थित भूत समूह को, (पंच महाभूतों को) अज्ञानी जन और मुझ अधियज्ञ को (धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग के भाव को) जो शरीर में स्थित है, (उसे भी कृश करने वाले हैं) उन अविवेकी जनों को जानो आसुरी निश्चय वाले।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

और आहार भी सब को तीन प्रकार का प्रिय होता है, वैसे ही यज्ञ, दान तथा तप भी होते हैं, उनके इस भेद को सुनो।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याःस्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विप्रियाः ॥८॥

आयु, सामर्थ्य, बल, आरोग्य, सुख, प्रीति की वृद्धि करने वाले रसयुक्त स्निग्ध, स्थिर, रुचिकर, आहार सात्विक व्यक्ति को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम तीखे, रूखे और जलन पैदा करने वाले तथा दुःख शोक और रोग उत्पन्न करने वाले आहार राजस व्यक्ति को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

रात का रखा हुआ, रस हीन, दुर्गन्धित, बासी, और जो जूठा तथा यज्ञ के लिये अनुपयुक्त, वह भोजन तामसी व्यक्ति को प्रिय होता है।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

कल की आकांक्षा से रहित व्यक्तियों द्वारा जो यज्ञ विधि के अनुसार किया जाता है, "यज्ञ करना ही चाहिये" (ऐसा) मन का समाधान हो तो वह यज्ञ सात्विक है।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

लक्ष्य बनाकर फल को अथवा दम्भाचरण के लिये ही जो किया जाता है, हे भरत श्रेष्ठ ! उस यज्ञ को राजस जान।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

विधि हीन, अन्नदान से रहित, मन्त्र और दक्षिणा से रहित, यज्ञ तामस कहा जाता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, द्विज, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, शारीरिक तप कहा जाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

उद्वेग उत्पन्न न करने वाले वाक्य जो सत्य प्रिय और हितकारी हैं, स्वाध्याय का अभ्यास और भी, यह वाणी की तपस्या कहलाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, शान्त भाव, मौन, आत्मा का संयम, शुद्धभाव यह मन की तपस्या कही जाती है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

परम श्रद्धा से तपाये हुए उपरोक्त तीन प्रकार के (कायिक, वाचिक और मानसिक) तप जो युक्त नर फल कांक्षा से रहित हो करते हैं वे तप सात्विक कहे जाते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

सत्कार मान पूजा के लिये जो तप, दम्भपूर्वक ही किया जाता है, जो चलायमान और लक्ष्य हीन है, वह तप यहाँ राजसी कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

मूढ़ आग्रह से आत्मा को पीड़ा देकर किया गया तप अथवा दूसरे का नाश करने के लिये जो किया जाता है वह तप तामस कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

देना कर्त्तव्य है इस भाव से अनुपकारी को (जिसने पहले उपकार न किया हो अथवा जिससे आगे भी उपकार की आशा न हो) देश काल और पात्र का विचार कर दिया जाता है, वह दान सात्विक कहा गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो किन्तु, प्रत्युपकार के लिये फल के उद्देश्य से या फिर क्लेश पाकर के दिया जाता है उस दान को राजस कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अनुपयोगी स्थान पर असमय जो दान कुपात्रों को दिया जाता है अथवा बिना सत्कार के अवज्ञा से जो दान दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

'ओम् तत् सत्' यह ऐसा निर्देश, ब्रह्म का तीन प्रकार का कहा गया है। इसी से ब्राह्मण (ग्रन्थ) वेद और यज्ञ रचे गये पूर्व में।

यह गीता का सर्वोत्कृष्ट मन्त्र है। इसका शाब्दिक अर्थ है, ओम् (श्रद्धापूर्वक स्वीकार है) 'तत्' अर्थात् (वह ब्रह्म) 'सत्' अर्थात् (अविनाशी)।

आत्मा और परमात्मा की सत्ता को अस्वीकार करने वाले सिद्धान्त भी प्राण की सत्ता को अस्वीकार नहीं कर सकते। इसलिये सम्पूर्ण मानव चिन्तन को एक सूत्र में बाँधने वाला गीता का शाश्वत् उद्घोष है—"ओम् तत् सत्" इसी से ही वेद ब्राह्मण ग्रन्थों की और यज्ञ की रचना हुई है।

दूसरे अध्याय में जिस ब्राह्मी स्थिति का वर्णन किया गया है वह इसी ब्रह्म की (मायातीत अन्याकृत प्राण) की स्थिति है।

तीसरे अध्याय में जो (ब्रह्माक्षर समुद्‌भवम्) ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न होता है कहा गया है उसका स्पष्ट अर्थ है कि ब्रह्म अर्थात् प्राण (अक्षर) से ही उत्पन्न होता है। जो प्राण, प्राण से ही उत्पन्न होता है, वही ब्रह्म अर्थात् प्राण सत् है।

चौथे अध्याय में जिस ब्रह्म यज्ञ का वर्णन किया है जिसकी अग्नि भी प्राण (ब्रह्म) हवि भी प्राण (ब्रह्म) अर्पण भी प्राण आहुति भी प्राण वह प्राण सत् है।

आठवें अध्याय में जिसे "अक्षरं ब्रह्म परमम्" कहा गया। वह यह प्राण है इसे जानकर ही मनुष्य जरा और मृत्यु से मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है।

तेरहवें अध्याय में जिसे "न सत् न असत्" कह कर विषय प्रवेश किया गया उस ब्रह्म (प्राण) को पूर्ण मन्थन के उपरान्त यहाँ ओम् तत् सत् कहा गया है।

चौदहवें अध्याय में जिसे – "मम योनिर्महद् ब्रह्म" कहा गया अर्थात् मेरी प्रकृति (परा प्रकृति) परब्रह्म है, वह प्राण रूपा परा प्रकृति सत् है।

पन्द्रहवें अध्याय में जिस ब्रह्म वृक्ष का वर्णन किया गया तथा जिसे "ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः" कहा गया, उस जीव भूत (प्राण रूपा) परा प्रकृति को ही 'ओम् तत् सत्' कहा गया है। यह गीता का सर्व व्यापक सर्वोपरि मन्त्र है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

अतः ओम् ऐसा कह कर यज्ञ, दान और तप क्रिया विधानोक्त हुआ करती है, सदैव ब्रह्मवादियों की।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

'तत्' इस भाव से, न चाहकर फल को यज्ञ, तप क्रिया दान क्रिया और विविध प्रकार की (क्रिया) की जाती है मुक्ति की इच्छा करने वालों द्वारा।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

सद्‌भाव में और साधुभाव में इस सत का प्रयोग किया जाता है। श्रेष्ठ कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग पार्थ ! किया जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, दान, तप की स्थिति भी 'सत्' कही जाती है। उसके लिये और जो कर्म किया जाता है, वह भी सत् है ऐसा कहा जाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो किया हुआ कर्म असत् ऐसा कहा जाता है पार्थ ! न वह है, मरने पर न यहाँ। गीता के अनुसार जो श्रद्धाहीन है वह अस्तित्व हीन है। श्रद्धा ही अस्तित्व की कसौटी है।

* * *

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१८।१६॥

ऐसा होने पर भी जो केवल आत्मा को कर्ता देखता है अशुद्ध बुद्धि होने के कारण वह दुर्मति यथार्थ नहीं देखता है।

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।।१।।

हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे केशिनिषूदन, संन्यास और त्याग के तत्व को पृथक्-पृथक् जानने की इच्छा करता हूँ।

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।२।।

काम्य कर्मों (स्वार्थ के लिये, भोगों की प्राप्ति की इच्छा के लिये किये गये कर्म) के त्याग को कविजन संन्यास जानते हैं, और विचारशील पुरुष सब प्रकार के कर्मफल (कर्म जनित सिद्धि) के त्याग (कर्म जनित सिद्धि को लोक हित के लिये अर्पित करने) को त्याग कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।३।।

त्याज्य हैं, दोषवत् हैं कर्म ऐसा एक प्रकार के विचारक कहते हैं, (किन्तु) और दूसरे विद्वान कहते हैं कि यज्ञ, दान तथा तपकर्म, त्याज्य नहीं हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।४।।

निश्चय सुन मेरा उस त्याग के विषय में, भरतवंशियों में श्रेष्ठ ! हे पुरुष व्याघ्र त्याग तीन प्रकार (का) ही कहा गया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।५।।

यज्ञ, दान, तप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं, निःसन्देह यह करना कर्तव्य है। यज्ञ, दान और तप विचारशील पुरुषों को भी पवित्र करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।६।।

यह भी किन्तु कर्म में आसक्ति और फलों का त्याग कर करने योग्य हैं। पार्थ ! यह मेरा निश्चित उत्तम मत है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियत कर्म का परन्तु संन्यास उचित नहीं, मोह के कारण उसका त्याग करना, तामस कहलाता है ।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

जो भी कर्म है, दुःख है, ऐसा जानकर शरीर कष्ट, भय, से जो कर्म का त्याग करता है तो वह राजस-त्याग करके भी त्याग के फल को नहीं पाता है ।

कर्म फल अथवा कर्म जनित सिद्धि सतत कर्म द्वारा ही प्राप्त होती है । शरीर को कष्ट होगा इसलिये जो कर्म छोड़ देता है उसे सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती । इस प्रकार का कर्मा का त्याग राजस त्याग कहलाता है । यह कर्म रहित होने के कारण कर्म जन्यसिद्धि से रहित होता है, अतएव इस कर्म त्याग में कर्मफल त्याग अर्थात् कर्मजन्य सिद्धि द्वारा लोक सेवा करना असंभव होता है । क्योंकि राजस त्याग में कर्मजन्य सिद्ध ही नहीं होती ।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

कार्य करना कर्तव्य है ऐसा ही जो (विचार कर) नियत कर्म किया जाता है अर्जुन ! आसक्ति त्याग कर और फल को त्याग कर वही त्याग सात्विक माना गया है ।

न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

न द्वेष करता है अकुशल कर्म से, कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता है, वह सामर्थ्य संपन्न संशय रहित मेधावी त्यागी है ।

गीता के अनुसार "योगः कर्म सु कौशलम्" कुशल कर्म अर्थात् कर्म योग पर आधारित कर्म; कुशल कर्म में आसक्त नहीं होना अर्थात कर्मफल में आसक्ति नहीं होना । 'अकुशल कर्म' अर्थात् कर्मफल में आसक्ति रखकर किये गये कर्मों से भी द्वेष न करने वाला सामर्थ्यवान त्यागी है । कारण कि बहुधा मनुष्य फल की इच्छा से ही कर्म करते हैं ।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

क्योंकि देहधारी के लिये समस्त कर्मों का परित्याग करना सम्भव नहीं है जो कमफल (कर्म जनित सिद्ध) का त्यागी है, वही त्यागी है ऐसा कहा जाता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

शुभ अशुभ मिश्रित यह तीन प्रकार का कर्मफल अत्यागियों को मिलता है मरने के पश्चात् भी, किन्तु संन्यासियों के कर्म का फल कहीं भी नहीं होता है।

गीता ने जहाँ कर्म की परिभाषा की है उसके साथ ही त्याग की परिभाषा भी हो गई है। "भूत भावोद्भव करो विसर्ग: कर्म संज्ञित: भूतों के भावों को उत्पन्न करने वाला त्याग कर्म कहा जाता है"।

गीता के अनुसार कर्म का अर्थ प्रेरणादायक त्याग है। ऐसा कर्म करने वाला व्यक्ति इस जीवन में और मृत्योपरान्त भी आलोचनातीत होता है, उसके त्याग का फल शुभ अशुभ और मिश्रित नहीं होता है। उस त्याग से आने वाली पीढ़ियों को मात्र प्रेरणा मिलती है, किसी भी प्रकार की उपलब्धि त्यागी को नहीं होती है। 'अत्यागी' अर्थात् कर्मफल का त्याग न करने वाले को शुभ अशुभ मिश्रित फल जीवन में मिलते हैं और मृत्यु के उपरान्त भी उसके कर्म आलोचना का विषय होते हैं।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो ! इन पाँच कारणों को मुझसे भली प्रकार से जान लो, जैसे कि वह सांख्य के सिद्धान्त में कहे गये हैं; सब कर्मों की सिद्धि के लिये।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठान, (पूर्व दृष्टान्त) कर्ता, तथा पृथक-पृथक साधन, एवम् भाँति-भाँति की अलग-अलग चेष्टायें और वैसे ही पाँचवा हेतु पुरुषार्थ है। (भाष्यकार यहाँ अधिष्ठान, कर्ता एवम् करण का अर्थ क्रमश: शरीर, अहंकार एवम् इन्द्रिय समूह करते हैं। उपरोक्त वर्गीकरण गीता चिन्तन के विरुद्ध हैं कारण कि १३।४-५ में अहंकार और इन्द्रियाँ शरीर के ही अन्तर्गत वर्णित हैं। शरीर के अभाव में इन्द्रियों और अहंकार का कोई अस्तित्व नहीं है।

'दैव' शब्द का अर्थ भी विवादास्पद है। गीता चिन्तन में भाग्यवाद का कोई स्थान नहीं है। "न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु। न कर्म फल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥" ईश्वर न कर्त्तापन को और न कर्मों को न कर्मफल के संयोग को रचता है स्वभाव ही सब करता है— इस प्रकार के स्पष्ट उद्घोष के उपरान्त कोई भी देवी देवता कार्य के सम्पन्न कराने में किसी भी प्रकार का योगदान करने में समर्थ नहीं हो सकता। गीता के अनुसार पौरुष के कारण ही पुरुष अधिदैव (सर्वोपरि दैव) कहा गया है 'पुरुष श्चाधिदैवतम्'। अतः पुरुषार्थ ही कार्य संपन्न करने में पाँचवा हेतु है।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य मन वाणी और शरीर से जो भी कर्म आरम्भ करता है, न्यायानुसार अथवा विपरीत, उसके यह पाँच हेतु हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसा होने पर भी जो केवल आत्मा को कर्ता देखता है, अशुद्ध बुद्धि होने के कारण, वह दुर्मति यथार्थ नहीं देखता है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जो जन अहंकृति भाव से रहित है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती वह इन लोकों को मारकर भी नहीं मारता है, न बँधता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय, तीन प्रकार की कर्म प्रेरणा है। कर्म, कर्ता, करण तीन प्रकार का कर्म संग्रह है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान कर्म और कर्ता गुणों के भेद के अनुसार तीन प्रकार के कहे गये हैं। गुणों की संख्या के अनुसार ही उनको यथार्थ रूप से सुन।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

सब भूतों में जिस ज्ञान से एक अव्यय भाव देखता है; अविभक्त होते हुए भी विभक्त, उस ज्ञान को सात्विक जानो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।२१॥

परन्तु जो ज्ञान पृथक्-पृथक् अनेक भावों को विभिन्न प्रकार से जानता है सब भूतों में, उस ज्ञान को जानो, राजसी ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो ज्ञान पूर्णतया एक काम में आसक्त है, बिना प्रयोजन, तत्वार्थ विहीन और अल्प है वह तामस कहलाता है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

नियत किया हुआ आसक्ति, राग और द्वेष से रहित, फल की इच्छा न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया गया जो कर्म है, वह सात्त्विक कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

जो काम फल की इच्छा से किया गया, अहंकारपूर्वक और फिर किया जाता है बहुत प्रयास से, वह राजस कहलाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न देखकर मोह से आरम्भ किया जाता है जो कर्म वह तामस कहलाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादो धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

मुक्तसंग (आसक्ति से मुक्त), अहंवाद से रहित, धैर्य और उत्साह से सम्पन्न सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार कर्ता, सात्त्विक कहा जाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।२७।।

रागी (आसक्ति युक्त) कर्मफल चाहने वाला, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र, हर्ष, शोक से युक्त कर्ता राजस कहा गया है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।२८।।

अयुक्त (बुद्धि और भावनाहीन—२।६६, निष्काम कर्म योग विहीन-५।१२) असंस्कृत, नम्रता रहित तथा धूर्त, नैष्कृतिक (अपने से श्रेष्ठ जनों का अपमान करने वाला), आलसी, दीर्घ सूत्री (नियत काम को नियत समय में न करने वाला), विषादी (सदैव अवसाद युक्त) कर्ता तामसी कहा जाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।।२९।।

बुद्धि के भी भेद, धृति के भी भेद, गुणानुसार तीन प्रकार के सुन (यह सब) कहे गये हैं पूणतया, पृथक्-पृथक्, धनंजय !

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३०।।

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय और जो जानती है बन्धन मोक्ष, पार्थ ! वह बुद्धि सात्विकी है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।३१।।

जो धर्म, अधर्म और कार्य, अकार्य भी यथावत नहीं जानती (उनका यथार्थ स्वरूप नहीं जानती) वह (बुद्धि) पार्थ, राजसी !

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।३२।।

अधर्म को जो और धर्म मानती है, तम से ढकी हुई और जो सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत मानती है। बुद्धि वह पार्थ, तामसी।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३३।।

हे पार्थ ! निष्काम कर्मयोग के उद्देश्य से जिस अव्यभिचारिणी (विषयान्तर से अप्रभावित) धृति से मनुष्य, मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है वह धृति सात्विकी है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

जो किन्तु धर्म, अर्थ, काम के लिये धृति धारण की जाती है, अर्जुन, आसक्ति से फलाकांक्षी पुरुष द्वारा वह धृति, पार्थ ! राजसी।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

जिससे (धृति से) स्वप्न, भय, शोक, विषाद्, मद को नहीं छोड़ता दुर्बुद्धि (मानव) वह धृति पार्थ ! तामसी।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

सुख भी तीन प्रकार के अब मुझसे सुन, भरत श्रेष्ठ ! अभ्यासपूर्वक जिसमें रमता है मनुष्य और दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

यह जो आरम्भ में विषवत्, परिणाम में अमृत के समान वह सुख सात्विक कहा गया है, अध्यात्म पर आधारित बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

इन्द्रियों और विषयों के संयोग से जो वह आरम्भ में अमृत तुल्य परिणाम में विषवत् वह सुख राजस कहा गया है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो आरम्भ में और परिणाम में जो सुख मोहित करता है आत्मा को, निद्रा और आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न, वह सुख तामस कहा जाता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वी में, दिव्य लोकों में, देवताओं फिर नहीं है वह सत्वम् (समर्थ) जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त हुआ हो ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों तथा शूद्रों के, अर्जुन ! कर्म स्वभाव जन्य गुणों के अनुसार बाँटे गये हैं। (जन्मानुसार नहीं) ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शान्त भाव, इन्द्रिय दमन, तप, पवित्रता, क्षमा भाव, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता ब्राह्मण के कर्म (हैं) स्वभावजन्य !

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

पराक्रम, तेजस्विता, धैर्य, तत्काल कार्य करने की क्षमता, युद्ध से पीछे न हटने का भाव, दान, ईश्वर भाव (सर्वोपरि भाव धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का भाव अधियज्ञ का भाव) क्षत्रिय के कर्म स्वभावजन्य। ईश्वर भाव का अर्थ जगद्गुरु आदि शंकराचार्य द्वारा "ईश्वर भावश्चेश्वरस्य भावः प्रभु शक्ति, प्रकटीकरणमीशितव्यान् प्रति"।

श्रीधर स्वामी—प्रभुत्व ।

संत ज्ञानेश्वर—प्रजा का पालन करके और उनके संतोष द्वारा संसार के उपभोग को "ईश्वर भाव" कहते हैं।

मधुसूदन सरस्वती—प्रजापालन के लिये शासन के योग्य पदार्थों में अपनी शक्ति को प्रकट करना ।

अरविन्द घोष—शासन और नेतृत्व करने की योग्यता ।

श्री राधाकृष्णन्—नेतृत्व (लीडरशिप)

डगलस हिल—स्वामीभाव (Lordliness)

श्री दीनानाथ भार्गव दिनेश—न्यायपूर्वक शासन करना, दीनबन्धु होना, सबको शरण देना, सबकी रक्षा करना—

उपरोक्त अर्थ एक ही भाव व्यक्त करते हैं कि क्षत्रिय भाव का अर्थ स्वामी भाव है। किसी भी व्यक्ति का अपने को ईश्वर अथवा स्वामी समझना एक तुच्छ विचार है। यह भाव गीता के ही अनुसार एक आसुरी भाव है। "ईश्वरोऽहमहं भोगी"। १६।१४

स्वामी भाव, अपने को ईश्वर कहना, एक हीन भाव है। अतएव ईश्वर भाव का अर्थ स्वामी भाव ग्रहण करने योग्य नहीं है। इस श्लोक में वर्णित ईश्वर भाव का अर्थ, अधियज्ञ भाव, धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का भाव है। यही गीता चिन्तन के अनुरूप है। यह श्लोक गीता में वर्णित ईश्वर भाव तथा ईश्वर का अर्थ स्पष्ट करता है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।४४।।

कृषि, गौरक्षा, वाणिज्य, वैश्य के कर्म स्वभावज। सेवा शूद्रों का स्वभावज कर्म ।

इसके उपरान्त भगवान अब गीता को संक्षेप में दोहराते हैं :

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।

अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि (सफलता) को प्राप्त करता है। अपने कर्म में लगा हुआ (व्यक्ति) जिस प्रकार सिद्धि (सफलता) को पाता है, वह सुन।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ।।४६।।

जिससे सब भूतों की चेष्टा (कर्म में प्रवृत्ति) उत्पन्न हुई है तथा जिससे यह सब व्याप्त है उसको अपने कर्म से पूज कर मनुष्य सिद्धि (सफलता) को पाता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।४७।।

श्रेष्ठ है अपना गुण हीन धर्म दूसरे के भलीभांति आचरण किये हुए धर्म से; स्वभाव से नियत किया हुआ कर्म करते हुए, मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

सहज कर्म, कौन्तेय ! सदोष हो तो भी उसको नहीं त्यागना चाहिये क्योंकि सब कर्म दोषों से घिरे हैं, जैसे धुँए से आग ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।

सर्वत्र अनासक्त बुद्धि, जितात्मा (जिसने आत्मा को जीत लिया है); स्पृहा-रहित (तृष्णा, अभिलाषा रहित) व्यक्ति संन्यास से युक्त होकर नैष्कमर्य (निष्काम कर्मयोग पर आधारित) सिद्धि को प्राप्त होता है ।

उपरोक्त पाँच श्लोकों में कर्मयोग का निरूपण किया गया है ।

सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।५०।।

हे कौन्तेय ! सफलता को प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है तथा जो ज्ञान की परानिष्ठा है वह भी मुझ से संक्षेप में समझ ।

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।५१।।

विशुद्ध बुद्धि से युक्त धृति से आत्मा को संयत करके, शब्दादि विषयों (निन्दा-स्तुति) को त्याग कर, राग और द्वेष को नष्ट करके ।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।५२।।

एकान्त सेवी, अल्पाहारी, वश में करने वाला, वचन, काया, मन तथा ध्यान योग में लगा हुआ नित्य वैराग्य के आश्रित ।

अहंकार बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

अहंकारं, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह (संचय वृत्ति) को छोड़कर, ममता रहित शान्त चित्त (पुरुष) ब्रह्मत्व लाभ के लिये योग्य होता है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ।।५४।।

ब्रह्म स्वरूप व्यक्ति प्रसन्नात्मा, न शोक करता है न इच्छा करता है, सब प्राणियों के प्रति समभाव हुआ मेरी परम भक्ति को पाता है।

उपरोक्त पाँच श्लोकों में ब्रह्म प्राप्ति का एवम् ज्ञान योग का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।५५।।

भक्ति के द्वारा मुझे भलीभांति जान लेता है कि मैं जो और जितना हूँ, तत्व से, और उस भक्ति से तत्वतः जानकर (मुझे) उसके उपरान्त मुझ में प्रविष्ट हो जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।५६।।

सब कर्मों को भी सदा करता हुआ, मेरा आश्रय लेकर मेरे प्रसाद से पा जाता है सनातन पद अविनाशी।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।५७।।

विवेक बुद्धि द्वारा सारे कर्मों को मेरे में ही अर्पण कर मेरे परायण हुआ बुद्धियोग का आश्रय लेकर सर्वदा मुझ में चित्त लगाने वाला हो।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।५८।।

मुझ में चित्त लगाकर सब संकटों से मेरी कृपा से तर जायगा और यदि अहंकार से नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।५९।।

यदि अहंकार का आश्रय लेकर मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा मानता है तो तेरा ऐसा निश्चय मिथ्या है। प्रकृति तुझे युद्ध में नियुक्त कर देगी।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।६०।।

कौन्तेय! अपने स्वभाविक कर्म से बँधा हुआ तू विवश होकर भी उसे करेगा जो तू मोहवश करना नहीं चाहता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

ईश्वर (अधियज्ञ) सब प्राणियों के हृदय में स्थित है, अर्जुन ! घुमाता हुआ सब प्राणियों को यन्त्रारूढ़ (के समान) माया (अस्तित्व रक्षिणी शक्ति) द्वारा ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

उसकी ही शरण में जा सर्व भाव से भारत ! उसकी कृपा से ही परम शान्ति के स्थान को प्राप्त करेगा, सनातन ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार तुझ से ज्ञान कहा है यह गुप्त से भी गुप्त, मैंने । भलीभाँति विचारकर पूर्णतया, जो इच्छा हो, वह कर ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सब गुह्यों में परम गुह्य फिर सुन मेरे परम वचन । प्रिय है मुझे अत्यन्त तू, अतः कहूँगा तेरे हित की वात ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५।

मुझ में मन रखने वाला हो, मेरा भक्त हो, मेरे लिये यजन करने वाला हो, मुझे नमस्कार कर मुझे ही प्राप्त होगा, सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, प्रिय है तू मेरा ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सारे धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आजा । मैं तुझे सारे पापों से मुक्त करूँगा । तू शोक मत कर ।

यदि उपरोक्त तीन श्लोकों में वसुदेव, देवकी के पुत्र श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव है तो स्वीकार करना पड़ेगा कि गीता निकृष्टतम व्यक्ति-पूजा को प्रोत्साहित करती है, और इस प्रकार गीता का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है ।

किन्तु किसी प्रकार का भ्रम न रहे, किसी प्रकार के संशय की उत्पत्ति न हो, किसी भी प्रकार के अन्धविश्वास का सृजन न हो, गीता में भगवान ने ईश्वर की परिभाषा करदी है।

"अधियज्ञोऽहमेवत्र देहे देह भृतांवर" सर्वोपरि यज्ञ (धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का भाव)। हूँ मैं इस देह में देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! गीता में भगवान ने अपने को अधियज्ञ से ही एकात्म किया है।

इस प्रकार से उपरोक्त श्लोक न व्यक्ति पूजा का प्रोत्साहन है, न ही अन्धविश्वास का सृजन, यह प्रेरणादायक उक्तियाँ सर्वोपरि यज्ञ की ज्वाला प्रज्वलित करती हैं और मानव मात्र के लिये धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग का आवाहन है, जो प्रत्येक देहधारी की देह में स्थित है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

यह तेरे लिये है, उनके लिये नहीं जो तपहीन हैं, न भक्त हैं, न कभी भी सुनना चाहते हैं मेरे वचनों को, और मेरी निन्दा करते हैं।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो इस परम गोपनीय रहस्य को मेरे भक्तों से कहेगा, वह मुझ में परा भक्ति द्वारा निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

नहीं और उससे अच्छा मेरा प्रिय करने वाला मनुष्यों में कोई होगा न और मेरा कोई दूसरा उससे प्रिय होगा पृथ्वी में।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

अध्ययन करेगा और जो इस धर्ममय संवाद का—हम दोनों के—उसके द्वारा ज्ञान यज्ञ द्वारा मेरा इष्ट होगा, ऐसा मेरा मत है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

श्रद्धा सहित दोष दृष्टि रहित सुनेगा जो नर, वह भी मुक्त होकर शुभ लोकों को प्राप्त होगा, पुण्य कर्म करने वालों के।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

क्या सुना तूने यह पार्थ, एकाग्र चित्त से ? क्या अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया है धनंजय ?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

नष्ट मोह हो गया मेरा। स्मृति प्राप्त हुई है। आपकी कृपा से अच्युत ! स्थित हूँ। सन्देह रहित हुआ। करूँगा वचनानुसार आपके।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इस प्रकार मैंने वासुदेव का और महात्मा पार्थ का यह संवाद सुना, अद्भुत, रोमांचकारी।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतःस्वयम् ॥७५॥

विस्तार की स्पष्टता से सुना है इस गूढ़ परम योग को साक्षात् योगेश्वर कृष्ण द्वारा कहा हुआ, स्वयं।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

राजन, स्मरण करके, स्मरण करके संवाद यह अद्भुत पुण्यमय श्रीकृष्ण अर्जुन का, हर्षित होता हूँ बार-बार।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामिच पुनः पुनः ॥७७॥

और उसका स्मरण करता हूँ, स्मरण करता हूँ अति अद्भुत रूप का, विस्मय होता है महान् राजन, हर्ष होता है महान् पुनः-पुनः।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

जहां योगेश्वर कृष्ण, जहाँ पार्थ धनुर्धर, वहीं श्री विजय, विभूति अचल, और नीति, मत है यह मेरा।

* * *